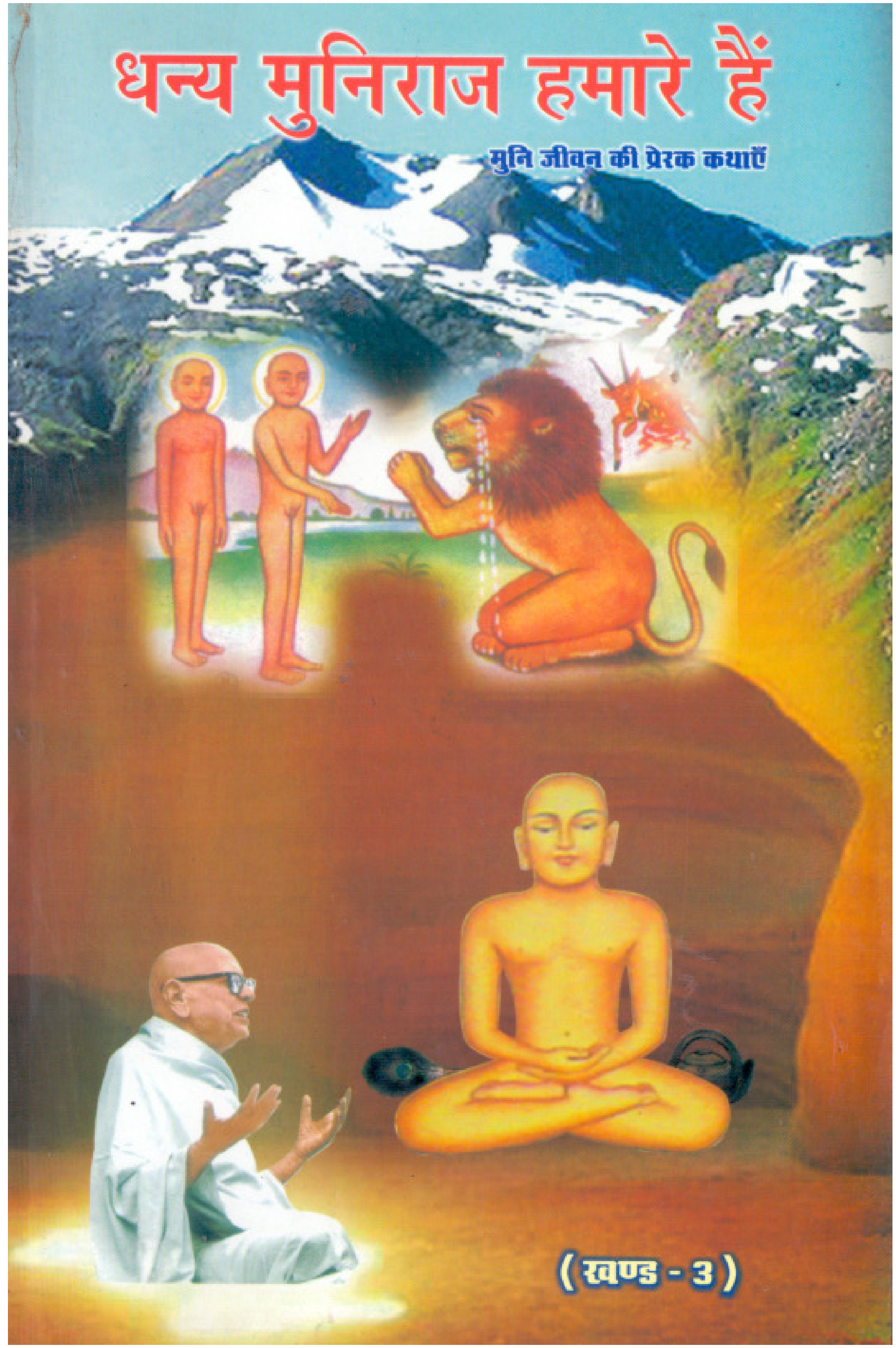
धन्य मुनिराज हमारे हैं
मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ
(खण्ड - 3)

ॐ

नमः सिद्धेभ्यः

धन्य मुनिराज हमारे हैं

(मुनि जीवन की प्रेरक कथाएँ)

(खण्ड-3)

सङ्कलन एवं सम्पादन :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रकाशन सहयोग :

श्रीमती कुसुम जैन धर्मपत्नी

विमलकुमार जैन एवं परिवार

विवेक विहार, दिल्ली

प्रकाशक :

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी-204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

पूर्व चार संस्करण : 5100 प्रतियाँ

पाँचवाँ संस्करण : 1000 प्रतियाँ

(पण्डित कैलाशचन्द्र जैन जन्म शताब्दी वर्ष के उपलक्ष्य में आयोजित मङ्गल समर्पण समारोह के अवसर पर दिनांक 10 जून 2012)

ISBN : 978-81-906776-6-0

न्योछावर राशि : रुपये 15.00

Available At -

- **TEERTHDHAM MANGALAYATAN,**
  Aligarh-Agra Road, Sasni-204216, Hathras (U.P.)
  Website : www.mangalayatan.com; e-mail : info@mangalayatan.com
- **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,**
  A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)
- **SHRI HITEN A. SHETH,**
  Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust
  302, Krishna-Kunj, Plot No. 30,
  Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
  Vile Parle (W), Mumbai - 400056
  e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com
- **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,**
  Songarh (Guj.)

टाइप सेटिंग :

मङ्गलायतन ग्राफिक्स, अलीगढ़

मुद्रक :

देशना कम्प्यूटर्स, जयपुर

प्रकाशकीय

(पाँचवाँ संस्करण)

'धन्य मुनिराज हमारे हैं' (खण्ड-3) कृति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस कृति में परम पूज्य दिगम्बर मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव को दर्शानेवाली 13 कथाओं का अद्भुत सङ्कलन किया गया है। कुल मिलाकर 108 कथाओं को संग्रहित करके प्रकाशित करने का प्रयास है। अति अल्प समय में पाँचवें संस्करण का प्रकाशन इस कृति की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यह तो सर्व विदित है कि **तीर्थधाम मङ्गलायतन** अपने उद्भव काल से ही परम पूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों, वीतरागी सन्तों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी द्वारा प्रचारित जिन-सिद्धान्तों को देश -विदेश में प्रचार-प्रसार करने हेतु प्रयासरत है।

वीतरागी तत्त्वज्ञान के प्रचार-प्रसार की विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत **मङ्गलायतन** पत्रिका का मासिक प्रकाशन उल्लेखनीय है। यह पत्रिका विविध विशेषाङ्कों के रूप में प्रति माह प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के वर्तमान में धन्य-मुनिदशा विशेषाङ्कों के 42 विशेषाङ्क प्रकाशित हो चुके हैं, जो अभी तक के इतिहास में एक अपूर्व उपलब्धि है।

इन विशेषाङ्कों से प्रेरणा पाकर **तीर्थधाम मङ्गलायतन** परिसर में 'धन्य मुनिदशा' प्रकल्प का निर्माण किया गया है, जिसमें स्वरूपानन्दी वीतरागी मुनिराजों के अन्तर्बाह्य वैभव की ध्वनि एवं प्रकाश के माध्यम से जीवन्त प्रस्तुति प्रदान की गयी है। आज हजारों लोग प्रतिदिन यहाँ पधारकर विश्व की इस अद्वितीय रचना का दर्शन कर दिगम्बरत्व के गौरव से परिचित होते हैं, साथ ही इस भ्रम का प्रक्षालन भी करते हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री मुनिविरोधी है। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के प्राङ्गण में साधर्मीजनों के ये स्वर मुखरित होते हुए आप देख/सुन सकते हैं कि पूज्य श्री कानजीस्वामी तो सच्चे मुनिभक्त हैं।

इन विशेषाङ्कों में प्रकाशित सामग्री को आवश्यक परिवर्तन/परिवर्धन के साथ शीघ्र ही **'धन्य-मुनिदशा'** नाम से चार खण्डों में प्रकाशित किया जा रहा है।

मुनिराजों की अन्तरपरिणति, परीषहों की विषय परिस्थितियों में सुमेरुवत् अचल परिणति एवं मुनिराज की सङ्गति से जीवों को हुए आत्मलाभ की गौरव गाथाएँ, सम्पूर्ण प्रथमानुयोग में यत्र-तत्र उपलब्ध है, उनमें से कतिपय प्रसङ्ग विविध कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत ग्रन्थ में संग्रहीत कर प्रकाशित किये जा रहे हैं। इन कथा ग्रन्थ में जिन-जिन लेखकों द्वारा लिखित कहानियों का प्रकाशन किया जा रहा है, हम उनके प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सङ्कलन एवं सम्पादन कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन (बिजौलियाँवाले) **तीर्थधाम मङ्गलायतन** द्वारा किया गया है।

प्रकाशन सहयोग के रूप में श्रीमती कुसुम जैन धर्मपत्नी विमलकुमार जैन एवं परिवार, विवेक विहार, दिल्ली द्वारा प्राप्त सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

सभी साधर्मीजन इन कथाओं के माध्यम से मुनिदशा की भावना प्रगट करेंगे - इसी आशा एवं विश्वास के साथ।

पवन जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन

सम्पादकीय

परम पूज्य वीतरागी दिगम्बर जैन सन्तों की गौरव गाथाओं को दर्शाता प्रस्तुत ग्रन्थ '**धन्य मुनिराज हमारे हैं**' (खण्ड-3) मुनिभक्त साधर्मीजनों को समर्पित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

चलते-फिरते सिद्धरूप मुनिराज की अन्तरपरिणति तीन कषाय चौकड़ी के अभावस्वरूप वीतरागता से ओत-प्रोत होती है, तो उनकी बाह्य मुद्रा अत्यन्त निर्विकार नग्न दिगम्बर होती है। मुनिराज के दर्शनों का सौभाग्य श्रावक जीवन का धन्य पल होता है और यदि उनको आहारदान का प्रसङ्ग अपने आँगन में बन जाए तो कहना ही क्या! इस प्रसङ्ग का भाववाही वर्णन करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते हैं -

'सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्तिभाव होता है कि उन्हें देखते ही उसका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है... अहो! इन मोक्ष के साक्षात् साधक सन्त भगवान की भक्ति के लिये मैं क्या-क्या करूँ? किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ! किस प्रकार इन्हें अर्पणता दूँ! - इस प्रकार धर्मात्मा का हृदय भक्ति से उल्लसित हो जाता है और जब ऐसे साधक मुनि अपने आँगन में आहार के लिये पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग बने, वहाँ तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया... इस प्रकार अपारभक्तिपूर्वक मुनि को आहार देते हैं।'

पूज्य गुरुदेवश्री के इसी प्रकार के मुनिभक्तिपूर्ण 1008 वचनामृतों का सङ्कलन भी तैयार किया गया है, जो शीघ्र प्रकाशित होगा।

मुनि भगवन्तों का सम्पूर्ण जीवन आत्मसाधनामय होता है। उपसर्ग -परीषह उनके पवित्र आत्मध्यान की परीक्षा का काल होता है। ऐसी विषम परिस्थिति में मुनिराज अपने ज्ञायकस्वभाव का उग्र अवलम्बन ग्रहण करते हुए प्रचुर अतीन्द्रिय आनन्द का भोग करते हैं।

जिनागम का प्रथमानुयोग ऐसे ही स्वरूप साधकों की मङ्गल गौरव गाथाएँ प्रस्तुत कर हमें भी निरन्तर आत्म-साधना की प्रेरणाएँ प्रदान करता है।

अहो! मुनिराजों के जीवन के ये पवित्र संस्मरण हमारे चित्त में उन साधकों के प्रति भक्तिभाव तो जागृत करते ही हैं, हमें उस दशा की पावन भावना भी जागृत करते हैं।

अपने में उसी वैराग्य भावना को परिपुष्ट करने के पावन उद्देश्य से मुनि जीवन की 108 कथाओं का सङ्कलन कर 'धन्य मुनिराज हमारे हैं' कथा शृङ्खला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का प्रयास है।

प्रस्तुत खण्ड में 13 कथाएँ प्रकाशित की गयी हैं, जिनमें तीन कथाएँ, आत्मकथा के रूप में एवं एक कथा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का मङ्गल प्रवचन है।

इसी ग्रन्थ में प्रकाशित 'जो-जो देखी वीतराग ने...' के अन्तर्गत मुनि द्वीपायन यद्यपि 'धन्य मुनिराज हमारे हैं' की श्रेणी में नहीं आते हैं, तथापि उस कथा से इतना तो ज्ञात होता ही है कि निर्ग्रन्थ जिनमुद्रा धारण करके भी यदि जीव निजात्म साधना से परिच्युत होता है, तो उसकी दशा द्वीपायन जैसी होती है। साथ ही यह बोध भी प्राप्त होता है कि मात्र बाह्य का नग्न वेष बना लेना ही कल्याणकारक नहीं है, उसके साथ-साथ आत्मिक साधना एवं वीतरागता का अतुल बल भी अपेक्षित है, वरना उपसर्ग परीषहों की आँधियों में सूखे तृणवत् उड़ जाओगे।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा प्रतिमाह प्रकाशित होनेवाली ***मङ्गलायतन*** पत्रिका के माध्यम से अब तक 31 विशेषाङ्क प्रकाशित कर, उन आराधक सन्तों के प्रति अपनी विनयाञ्जलि समर्पित की है, जो अपने आप में एक ऐतिहासिक कार्य है। इस कार्य के मूल प्रेरणास्रोत तो पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं उनके अन्तरङ्ग में व्याप्त मुनिभक्ति ही है। साथ ही पूज्य गुरुदेवश्री के अनन्यभक्त गुरुवर्य पण्डित कैलाशचन्द जैन अलीगढ़ की मङ्गल प्रेरणाएँ भी इस कार्य के प्रति निमित्तभूत हुई है। अत: मैं अपने परम उपकारी इन गुरुओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

इस कथा संग्रह में जिन कथाकारों द्वारा लिखित कहानियों का सङ्कलन किया गया है, उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। यद्यपि कथाएँ उनकी मूल भाषा में रखने का प्रयास किया गया है, तथापि भाषा को प्रवाहमयता के उद्देश्य से उसमें आवश्यक संशोधन भी किये हैं। कुछ कथाओं के शीर्षक बदलकर उन्हें नया नाम भी दिया गया है। कहीं -कहीं प्रासङ्गिक तात्त्विक उद्बोधन भी डाला गया है। इस मङ्गल कार्य में प्रवृत्त होने से मुझे पूज्य वीतरागी सन्तों का अन्तरङ्ग जानने का अवसर तो प्राप्त हुआ ही है, साथ ही उदयजन्य विषम परिस्थितियों में विचलित न होने का साहस भी उपलब्ध हुआ है।

इस कार्य का सुअवसर प्रदान करने के लिए अग्रज श्री पवन जैन, पण्डित अशोक लुहाड़िया इत्यादि के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अन्त में यही भावना भाता हूँ कि धन्य मुनिदशा का धन्य क्षण मेरे जीवन में भी आये।

तीर्थधाम मङ्गलायतन देवेन्द्रकुमार जैन

अनुक्रमणिका

1.	राग से विराग की ओर	1
2.	एक सिंह की आत्मकथा	13
3.	सुबह का भूला	17
4.	क्षमामूर्ति बालि मुनिराज	30
5.	पशु से परमेश्वर	56
6.	मित्र हो तो ऐसा	67
7.	एक हाथी की आत्मकथा	79
8.	जो-जो देखी वीतराग ने	88
9.	सौतन की डाह	96
10.	विराधक बना आराधक	108
11.	धर्मात्मा की नि:शङ्कता	128
12.	सियार चला सिद्धों के मार्ग	135
13.	सिद्ध भगवान की आत्मकथा	141

1

राग से विराग की ओर

महापुरुष रामचन्द्रजी के समय की बात है। उस समय सिद्धार्थनगरी के राजा क्षेमंकर थे और उनकी रानी का नाम विमलादेवी था। उनके दो पुत्र थे – एक देशभूषण और दूसरा कुलभूषण। दोनों भाइयों को एक-दूसरे के प्रति अपार प्रेम था। मात्र इसी भव में नहीं, बल्कि पूर्व में अनेक भवों से वे एक-दूसरे के भाई रहे थे। दोनों भाई, आत्मा को जाननेवाले और पूर्वभव के संस्कारी थे।

राजा ने बाल्यावस्था से ही दोनों को विद्याभ्यास के लिए किसी अन्य नगर भेज दिया था। पन्द्रह वर्ष तक दोनों भाई विद्याभ्यास में इतने मस्त थे कि विद्यागुरु के अलावा किसी अन्य को जानते तक नहीं थे। विद्याभ्यास पूरा करके जिस समय दोनों युवा राजकुमार घर आये, उस समय राजा ने नगरी का शृङ्गार करके उनका भव्य स्वागत किया और उनके विवाह के लिए राजकन्याओं को पसन्द करने की तैयारी की।

दोनों भाइयों की स्वागतयात्रा नगरी में घूमती-घूमती राजमहल के पास आयी, वहाँ झरोखे में एक अतिसुन्दर राजकन्या प्रसन्नचित्त

से खड़ी थी। उसका अद्‌भुत रूप देखकर दोनों राजकुमार उस पर मुग्ध हो गये। वह राजकन्या भी एकटक उनको देख रही थी, दोनों का रूप निहारती-निहारती वह बहुत प्रसन्न हो रही थी।

अब, एक साथ उन देशभूषण और कुलभूषण दोनों भाईयों को ऐसा लगा कि यह राजकन्या मेरे लिए ही है... मुझ पर प्रसन्न हो रही है, मैं ही इससे विवाह करूँगा; इस प्रकार दोनों भाई इसी राजकन्या पर नजर रखकर उसे राग से निहारने लगे। यह देखकर दोनों को एक-दूसरे के प्रति द्वेष हो गया कि यदि मेरा भाई इस कन्या पर नजर रखेगा तो मैं उसे मारकर इस राजकन्या से विवाह करूँगा। मन ही मन में वे एक-दूसरे को मारकर भी उस राजकन्या के साथ विवाह करने की सोच रहे थे। दोनों का चित्त एक ही राजकुमारी में एकदम आसक्त था, इस कारण वे एक-दूसरे से कहने लगे –

'इस राजकुमारी के साथ मैं विवाह करूँगा, तुम नहीं।'

इस प्रकार मैं-मैं... तू-तू करते-करते दोनों भाई हाथी पर बैठे-बैठे वाद-विवाद करने लगे। कन्या के मोहवश दोनों भाई एक-दूसरे के प्रति प्रेम भूल गये और द्वेषपूर्ण वर्ताव करने लगे। उस कन्या के लिये एक-दूसरे से लड़ने-मरने को तैयार हो गये।

अरे रे... विषयासक्ति! जो भाई-भाई के स्नेह को भी तोड़ देती है। अरे चेतो! चार-चार भव से परमस्नेह रखनेवाले दोनों भाई इस समय विषयासक्तिवश एक-दूसरे को मारने के लिए भी तैयार हो गये हैं।

★ ★ ★

इतने में कुछ शब्द उनके कान में पड़ते ही दोनों भाई चौंक गये... जैसे, बिजली ही उन पर पड़ गयी हो, अरे रे... वे दोनों स्तब्ध कैसे हो गये?... क्या शब्द थे वे?

दोनों राजकुमारों को लड़ाई करने की तैयारी करते देख तथा दोनों की नजर भी राजकुमारी की ओर लगी है – यह देखकर, उनके साथ चल रहे बुद्धिमान मन्त्री परिस्थिति को समझ गये कि ये दोनों राजकुमारी के लिए लड़ रहे हैं... उन्होंने कहा –

''देखो, राजकुमारों! सामने राजमहल के झरोखे में 'तुम्हारी बहिन' खड़ी है, जो बहुत वर्षों बाद तुम्हें पहली बार देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो रही है कि अहा! कितने अच्छे लग रहे हैं मेरे भाई! अत: टकटकी लगाकर तुम्हें निहार रही है। तुम विद्याभ्यास करने गये थे, उसके बाद इसका जन्म हुआ था, यह तुम्हारी बहिन तुम्हें पहली बार देखकर कितनी प्रसन्न है! तुम भी उसे पहली बार देख रहे हो...।''

'अरे! इस झरोखे में खड़ी-खड़ी जो हमारे सामने हँस रही है, वह राजकुमारी कोई और नहीं, हमारी ही सगी बहिन है।' – ऐसा जानकर दोनों भाईयों के मन में जबरदस्त धक्का लगा। लज्जा से वे वहीं ठहर गये। वे सोचने लगे –

'अरे रे! यह तो हमारी छोटी बहिन है! हमने इसे कभी देखा नहीं, इससे समझ नहीं सके, अज्ञानता के कारण हम अपनी बहिन पर ही विकार से मोहित हुए और एक-दूसरे को मारने का विचार करने लगे। अरे, विषयान्ध होकर हम भाई-भाई के स्नेह को भी भूल गये! हाय... हाय! हमें यह दुष्ट विचार क्यों आया?

अरे रे! ऐसे संसार में क्या रहना! जहाँ एक भव की स्त्री दूसरे भव में माता या बहिन हो जाए; एक भव की बहिन दूसरे भव में स्त्री आदि हो जाए। अब हमें इस संसार से विराम लेना चाहिए। अनेक दु:खों से भरा हुआ यह संसार, जिसमें दुष्ट मोह, जीव को अनेक प्रकार से नचाता है। हमें धिक्कार है कि हमने मोह के वश होकर अपनी बहिन के प्रति विकारभाव किया। अरे रे! अब, माता-पिता को हम क्या मुँह दिखायेंगे?'

– ऐसा विचार करके उन्हें राजमहल जाने में अत्यन्त शर्म महसूस हुई। वे दोनों राजकुमार, संसार को असार समझकर अत्यन्त विरक्त हुए और वहाँ से लौटकर, विरक्त होकर मुनिदीक्षा अङ्गीकार करने के लिए तैयार हुए। उसी समय पुत्रवियोग से व्याकुल माता ने पुत्रों को रोकने के लिये बहुत प्रयत्न किया। उनके पिता दोनों पुत्रों के विरह में आहार का त्याग करके, प्राणों का परित्याग कर भवनवासी देवपर्याय में गरुड़ेन्द्र हुए।

उनकी बहिन ने भी मुनिपने में बहुत कष्ट बताते हुए कहा –

'हे बन्धुओं! वहाँ कोई माता-पिता या परिवार नहीं है, कुटुम्ब -परिवार के बिना वन में अकेले किस प्रकार रहोगे?'

तब वैरागी कुमारों ने कहा – 'हे माता! हे बहिन! मुनिदशा में तो महा-आनन्द है। वहाँ आत्मा अकेला नहीं है, उसका महान चैतन्य परिवार उनके साथ ही है।' कहा भी है –

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननि शान्तिश्चिरं गेहिनी,
सत्यं सुनुरयं दया च भगिनि भ्राता मनः संयमः।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजनं,
एते यस्य कुटुंबिनो वद सखे! कस्मात् भयं योगिनः॥

धैर्य जिसका पिता है, क्षमा जिसकी माता है, अत्यन्त शान्ति जिसकी गृहिणी है, सत्य जिसका पुत्र है, दया जिसकी बहिन है और संयम जिसका भाई है – ऐसा उत्तम वीतरागी परिवार मुनियों को जङ्गल में आनन्द देता है; फिर पृथ्वी जिसकी शय्या है, आकाश जिसके वस्त्र हैं, ज्ञानामृत जिसका भोजन है – ऐसे योगी को कैसा डर ? भय तो इस मोहमयी संसार में है, मोक्ष के साधकों को भय कैसा ?'

– ऐसा कहकर देशभूषण-कुलभूषण दोनों कुमार वन में चले गये और दीक्षा लेकर मुनि हो गये। उनकी बहिन आर्यिका हो गयी। दोनों राजकुमार मुनि होकर चैतन्य के अनन्त गुण परिवार के साथ अत्यन्त आनन्द से क्रीड़ा करने लगे। शुद्धोपयोग के द्वारा निजगुण के स्वपरिवार के साथ भाव-विभोर होते हुए मोक्ष की साधना करने लगे।

★ ★ ★

वनवास के समय जिस समय राम-लक्ष्मण और सीता वंशधर पर्वत के पास आये थे, उसी समय देशभूषण-कुलभूषण मुनिवर

उस पर्वत पर ध्यानमग्न विराजमान थे, उस समय उनके पूर्वभव का वैरी दुष्ट अग्निप्रभदेव तीन दिन से उन पर दैवीय मायाजाल के द्वारा घोर उपसर्ग कर रहा था।

श्री केवली भगवान की वाणी में ऐसा आया था कि मुनिसुव्रत प्रभु के बाद उनके शासन में देशभूषण-कुलभूषण केवलज्ञानी होंगे – ऐसा सुनकर पूर्व की द्वेषबुद्धि से प्रेरित होकर दुष्ट अग्निप्रभदेव ने विचार किया कि मैं उन पर उपसर्ग करूँगा, जिससे केवली भगवान का वचन मिथ्या हो जाएगा। ऐसी मिथ्याबुद्धि के द्वारा वह देशभूषण और कुलभूषण मुनिराज पर उपसर्ग करने लगा।

वह देव, विक्रिया द्वारा सर्प और चींटी बनकर उनके शरीर से लिपट जाता..., ऐसी गर्जना करता कि पर्वत काँप उठता.... क्रूर पशुओं का रूप धारण कर मुनियों को खा जाने की चेष्टा करता... प्रतिदिन रात्रि के समय उन ध्यानस्थ मुनियों पर उपसर्ग करता। उन उपसर्गों की भयानक आवाज दस-दस गाँव के लोगों तक को सुनाई देती थी। वह आवाज सुनकर नगरजन भय से काँप उठते... वहाँ का राजा भी कोई उपाय न कर सका था, इसलिए भय के कारण राजा-प्रजा सभी रात को वह नगरी छोड़कर दूर चले जाते थे।

इस प्रकार अत्यन्त भयभीत नगरजनों को देखकर राम ने उनसे इस भय का कारण पूछा, तब नगरजनों ने कहा –

'हे महाभाग! यहाँ रोज रात्रि के समय कोई दुष्ट देव भयङ्कर उपसर्ग करता है, उसकी अत्यन्त कर्कश आवाज से यहाँ के सभी

जन भयभीत हैं। पता ही नहीं चलता कि पर्वत पर प्रतिदिन रात्रि में क्या होता है ?'

नगरजनों की करुण पुकार से करुणाशील श्रीराम उस पर्वत पर जाने के लिए उद्यत हुए, तब नगरजनों ने कहा – 'हे देव! वहाँ बहुत डर है, जिसे आप सहन नहीं कर सकते; इसलिए आप वहाँ नहीं जाएँ, आप भी हमारे साथ सुरक्षित स्थान में चलें।'

यह सुनकर सीता भी भयभीत होकर कहने लगी – 'हे देव! आप वहाँ मत जाइये। चलो, हम भी इन लोगों के साथ निर्भय स्थान में जाकर रात्रि व्यतीत करेंगे।'

सीताजी की भयपूर्ण बात सुनकर राम ने हँसकर कहा – 'हे जानकी! तुम तो बहुत ही कमजोर हो। यदि तुम्हें इन लोगों के साथ जाना हो तो तुम जाओ; मैं तो रात को उसी पर्वत पर जाकर रहूँगा और वहाँ यह सब क्या हो रहा है, उसे देखूँगा, मुझे कोई डर नहीं है।'

सीता ने कहा – 'हे नाथ! आपका हठ दुर्निवार है। यदि आप जाओगे तो मैं भी साथ ही आऊँगी। आप और लक्ष्मण जैसे वीर हमारे साथ हों, फिर मुझे भी भय कैसा?' – ऐसा कहकर वह भी राम-लक्ष्मण के साथ ही वंशधर पर्वत की ओर जाने लगी।

लोगों ने उन्हें न जाने के लिए बहुत समझाया, परन्तु राम -लक्ष्मण निर्भयतापूर्वक पर्वत की ओर चले गये, सीता भी उनके साथ गयी। सीता, भय के कारण कहीं पर्वत से गिर न जाए –

ऐसा विचार कर राम आगे और लक्ष्मण पीछे, बीच में सीता – इस प्रकार दोनों भाई बहुत सावधानी से सीता को पर्वत के शिखर के ऊपर तक ले गये।

पर्वत पर जाकर उन्होंने एक अद्भुत आश्चर्यकारी दृश्य देखा। अहो! अत्यन्त सुकोमल दो युवा मुनिराज खड़े-खड़े देह से भिन्न आत्मा का ध्यान कर रहे हैं। नदी के समान गम्भीर उनकी शान्त मुद्रा है – ऐसे वीतरागी मुनि भगवन्तों को देखकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्नता हुई और भक्तिभाव से ऐसी स्तुति की कि जिसे सुनकर पर्वत पर रहनेवाले पशु भी मोहित हो गये और वहाँ आकर शान्ति से बैठ गये। उसके बाद राम-लक्ष्मण-सीता वहीं रुक गये।

फिर रात हुई... और असुर उपद्रव करने वहाँ पहुँचा, बड़ा भयङ्कर सर्प का रूप लेकर जीवों को ललकारते हुए वह उन मुनिराजों के शरीर से लिपट गया। राम-लक्ष्मण इस उपद्रव को असुर की माया समझकर उस पर अतिशय क्रोधित हुए। सीता तो उसका भयङ्कर रूप देखकर भय से राम से लिपट गयी.... तब राम ने कहा – 'हे देवी! तुम भय मत करो।'

इस प्रकार सीता को धीरज बँधाकर दोनों भाइयों ने मुनियों के शरीर से सर्प को दूर किया। बलदेव और वासुदेव के पुण्य के प्रताप से असुरदेव की विक्रिया का जोर नहीं चला और उसने अपनी विक्रियाजनित माया समेट ली; इस प्रकार उपसर्ग दूर हुआ समझकर राम-लक्ष्मण-सीता आनन्दसहित मुनिराजों की स्तुति करने लगे –

'हे देव! आप तो संसार से उदास और मुक्ति के साधक हो, आप मङ्गल हो, आपकी शरण लेकर भव्यजीवों का भवरूपी उपसर्ग दूर हो जाता है और आनन्दमय मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। अहो! आप जिनमार्ग के प्रकाशक हो और सम्यक्त्वादि तीन उत्तम रत्नों के द्वारा सुशोभित हो रहे हो; आत्मा की साधना में आप मेरु के समान निश्चल हो। तुच्छ असुरदेव पिछली तीन रातों से घोर उपद्रव करता रहा, फिर भी आप आत्मसाधना से नहीं डिगे, जरा-सा विकल्प भी नहीं किया। धन्य है आपकी वीतरागता! आपके पास एक नहीं, अपितु अनेक लब्धियाँ हैं; आप चाहें तो असुरदेव को क्षणमात्र में परास्त कर सकते हो, भगा सकते हो... परन्तु बहु उपसर्ग कर्ता के प्रति भी आपको क्रोध नहीं है - ऐसे आप चैतन्य के ध्यान के द्वारा केवलज्ञान साधने में तत्पर हो।'

इस प्रकार बहुत स्तुति करते रहे.... लेकिन तभी मध्यरात्रि के समय वह दुष्ट देव फिर से आया और मुनियों पर पुनः उपसर्ग करने लगा। भयानक रूप धारण करके राक्षस और भूतों के समूह नाचने लगे, विचित्र आवाज कर-करके शरीर में से अग्नि की लपटें निकालने लगे... हाथ में तलवार-भाला लेकर कूदने लगे; उनके शोर से पर्वत की शिलाएँ भी काँपने लगीं, मानों कोई भयङ्कर भूकम्प आया हो।

जिस समय बाहर यह सब कुछ हो रहा था, उसी समय दोनों मुनिवर अन्दर शुक्लध्यान में मग्न होकर आत्मा के अपार आनन्द का अनुभव कर रहे थे। बाहर क्या हो रहा है ? इस पर

उनका लक्ष्य नहीं था। यह दृश्य देखकर सीता पुनः भयभीत हो गयी, तब राम ने कहा -

'देवी! तुम डरो मत, तुम इन मुनिवरों के चरणों में ही बैठी रहो, हम इस दुष्ट को भगा कर आते हैं।'

- ऐसा कहकर सीता को मुनि के चरणों के समीप छोड़कर राम-लक्ष्मण ने दुष्ट असुरदेवों को ललकारा।

राम के धनुष की टङ्कार से ऐसा लगा मानो वज्रपात हो गया हो। लक्ष्मण की सिंह-गर्जना सुन करके अग्निप्रभदेव समझ गया कि ये कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, ये तो महाप्रतापी बलदेव और वासुदेव हैं; अतः राम-लक्ष्मण का पुण्यप्रताप देखकर वह अग्निप्रभदेव भाग गया और उसकी सब माया भी समाप्त हो गयी। इस प्रकार फिर से उपसर्ग दूर हुआ।

उपसर्ग दूर होते ही ध्यान में लीन देशभूषण और कुलभूषण मुनिराजों को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। केवलज्ञान का उत्सव मनाने के लिए स्वर्ग से बहुत देव आये, चारों ओर मङ्गलनाद होने लगा, रात्रि भी दिव्य प्रकाश से जगमगा उठी। केवलज्ञान के प्रताप से रात और दिन में कोई भेद नहीं रहा, मानो रात्रि की छाया असुरकुमार देव के साथ चली गयी हो।

अहो, अपने सामने मुनि भगवन्तों को केवलज्ञान होता देखकर, राम-लक्ष्मण-सीता के आनन्द का तो पार ही नहीं रहा। उन्होंने

हर्षित होकर सर्वज्ञ भगवन्तों की परम भक्तिभाव से स्तुति की और दिव्यध्वनि द्वारा भगवान का उपदेश सुना। अहो! प्रभु के श्रीमुख से चैतन्यतत्त्व की कोई परम अद्‌भुत गम्भीर महिमा सुनकर उनके आनन्द का पार न रहा।

देशभूषण-कुलभूषण के पिता, जो मरकर गरुड़ेन्द्र हुए थे, वे भी केवली भगवान के दर्शन करने के लिए आये। राम-लक्ष्मण से वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और आदरपूर्वक बोले – 'ये दोनों मुनि हमारे पूर्वभव के पुत्र हैं, तुमने इनकी भक्ति की और इनका उपसर्ग दूर किया – यह देखकर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ; इसलिए जो माँगना हो, वह माँगो, मैं दूँगा।'

गरुड़ेन्द्र की बात सुनकर राम ने कहा – 'जब कभी हम पर सङ्कट आये, तब आप हमारी मदद करें।'

यह वचन प्रमाण करके गरुड़ेन्द्र ने कहा – 'अच्छा, तुम यही समझना कि मैं तुम्हारे पास ही हूँ।'

तत्पश्चात् केवली भगवान की वाणी सुनकर अनेक जीवों ने धर्म प्राप्त किया। राजा और प्रजाजनों ने नगरी में आकर आनन्दपूर्वक उत्सव मनाया। केवलज्ञान के प्रताप से सर्वत्र आनन्द-मङ्गल छा गया। भगवान की वाणी में ऐसा आया कि 'रामचन्द्रजी इसी भव से मोक्ष प्राप्त करेंगे। श्री रामचन्द्रजी बलभद्र हैं, तद्‌भव मोक्षगामी है।' केवली प्रभु की वाणी में यह बात सुनकर लोगों ने उनका बहुत सम्मान किया।

मुनिवरों को केवलज्ञान उत्पन्न होने से उस भूमि को महा तीर्थरूप समझकर राम-लक्ष्मण-सीता बहुत दिनों तक वहीं रहे

और महान उत्सवपूर्वक पर्वत पर अनेक मन्दिर बनवाकर अद्‌भुत जिनभक्ति की। उसी समय से यह पर्वत 'रामटेक तीर्थ' के नाम से प्रसिद्ध है।

★ ★ ★

गगनविहारी देशभूषण-कुलभूषण केवली भगवन्त, दिव्यध्वनि से अनेक देशों के भव्यजीवों को धर्म का प्रतिबोध करते हुए अयोध्यानगरी में पधारे। तब फिर से उन मुनि भगवन्तों के दर्शन करके राम-लक्ष्मण-सीता, भरत-कैकेयी आदि को अत्यन्त हर्ष हुआ। उनका धर्मोपदेश सुनकर भरत ने जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली और त्रैलोक्यमण्डन हाथी ने भी श्रावकव्रत अङ्गीकार किये। तत्पश्चात् विहार करते हुए वे दोनों केवली भगवन्त कुंथलगिरी पधारे और वहाँ से मोक्ष प्राप्त कर सिद्धालय में विराजमान हुए। दोनों भाई संसार में अनेक भवों तक साथ रहे और आज मोक्ष में भी साथ ही विराजमान हैं।

उन केवली भगवन्तों को हमारा बारम्बार नमस्कार हो। ●

– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

2

एक सिंह की आत्मकथा

एक बार मैं माँस-भक्षी सिंह था, उस समय महाभाग्य से मुझे मुनिवरों का समागम मिला... उन मुनिवरों के क्षणिक समागम से मेरा क्रूरपरिणाम तुरन्त ही छूट गया और शान्तपरिणाम हुआ... उनके उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करके मैं परमात्म-पन्थ का पथिक बन गया...।

उन मुनिवरों के समागम की अपनी यह सुन्दर कहानी मैं आपको सुनाता हूँ, उसे आप आनन्द से सुनो -

अनादि-अज्ञान के वशीभूत हुआ मैं भटकते-भटकते एक बार श्री ऋषभदेव का पौत्र हुआ, तब भगवान की दिव्यध्वनि में आया कि मैं भविष्य में भरतक्षेत्र का चौबीसवाँ तीर्थङ्कर होऊँगा। यह सुनकर मुझे हर्ष के साथ अभिमान पैदा हो गया... अरे रे! उस समय मेरे दादाजी आदि-तीर्थङ्कर की धर्मसभा में भी मैंने आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया... और मिथ्यादृष्टि रहकर असंख्य भव धारण कर नरक-निगोद में जाकर दु:खी हुआ।

फिर एक बार सुन्दर बगीचे के निमित्त से संसार से विरक्त होकर मैंने आत्मज्ञान प्राप्त किया। अरे रे! फिर विषय-कषाय के

वश होकर मैं उसे भूल गया और नरक-तिर्यञ्चगति में चला गया।

एक बार मैं सिंह हुआ..., और जङ्गल में हिरण को मारकर माँस खाने की तैयारी कर रहा था, तभी एकाएक दो सौम्य मुद्राधारी मुनिराजों ने आकाशमार्ग से उतरकर मुझे दर्शन दिये... कैसा अद्‌भुत था उनका दैदीप्यमान मुख-मण्डल! उनकी मुद्रा कैसी अपार शान्त और निर्भय!! बस, वे मुझसे बिना डरे शान्त नजर से वात्सल्यभाव से मुझे देख रहे थे। उन्हें देखकर मैं तो मुग्ध हो गया। अहा! कैसी सुशोभित हो रही थी उनकी करुणापूर्ण मधुर नजर!!

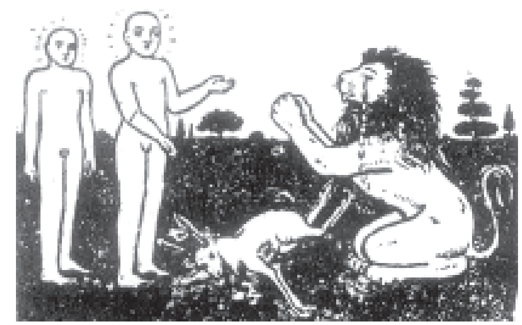

कौन हैं ये महापुरुष? किसलिए यहाँ पधारे हैं? मेरे कोई परम हितैषी लगते हैं। मेरा चित्त उनमें ऐसा स्थिर हो गया कि मैं भूखा था और पास में ही मेरा शिकार - मरा हुआ हिरण पड़ा था, फिर भी मेरी उसे खाने की इच्छा सर्वथा समाप्त हो गयी थी... उस समय मुझे विचार आ रहा था कि अरे रे! कहाँ मेरी हिंसकवृत्ति! और कहाँ इन मुनिवरों की परम शान्ति!!.....

उनका साथ मुझे बहुत अच्छा लग रहा था। आश्चर्यपूर्ण दृष्टि से मैंने पूछा - 'हे प्रभु! आप यहाँ क्यों पधारे हो? आपके पास मुझे महान् शान्ति मिल रही है।'

मुनिराज ने वात्सल्यपूर्ण हृदय से मुझे सम्बोधन दिया -

'हे भव्य! हम भगवान के पास से आ रहे हैं.... और तुम्हें आत्मज्ञान प्राप्त कराकर तुम्हारा उद्धार करने के उद्देश्य से ही यहाँ आये हैं।'

अहो! कैसी आनन्द की बात!! ऐसे महान् महात्मा, आकाशमार्ग से मेरा उद्धार करने पधारे और वह भी परमेश्वर के पास से! धन्य भाग्य!! 'अब वे मुझसे क्या कहेंगे?' – यह सुनने के लिए मेरा मन आतुर होने लगा। तब उनके श्रीमुख से अमृत की धारा झरने लगी –

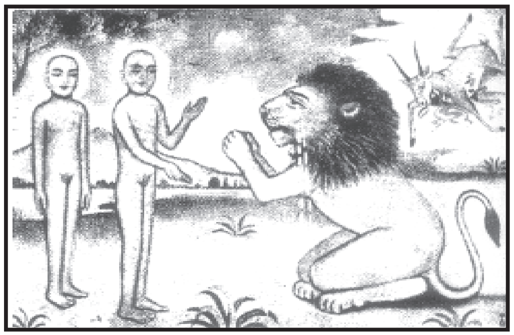

'सुनो भव्य! इस भव से दस भाव बाद तुम (तुम्हारा ही आत्मा), भरतक्षेत्र में तीर्थङ्कर महावीर बनोगे और वीतरागी अहिंसा-धर्म का उपदेश देकर लाखों-करोड़ों जीवों का कल्याण करोगे।'

'अरे, मैं यह क्या सुन रहा हूँ। मैं तीर्थङ्कर बनूँगा! अहो! मुझे यह माँसाहार का परिणाम शोभा नहीं देता। मैं यह क्या कर रहा हूँ!' – इस प्रकार मैं पश्चाताप करने लगा।

तब मुनिराज ने मुझे आश्वासनपूर्वक कहा – 'हे वत्स! भूतकाल तो बीत गया.... अब उसकी चिन्ता छोड़ो... इन माँस-भक्षणादि पापभावों को सर्वथा छोड़ो.... तुम्हारा आत्मा, रागादि विकारों से भिन्न ज्ञानस्वरूपी है और उसमें ही शान्ति है, उसे तुम जानो... और अपने में शान्ति का अनुभव करो!'

बस, यह सुनकर मैं तो अन्दर आत्मस्वरूप के विचार में खो गया... कैसा है आत्मा? राग से भिन्न, हिंसा के भाव से भिन्न, शान्त-शान्त.... ऐसे आत्मा में कितना आनन्द होगा! मैं उसे अन्दर देखने का उद्यम करने लगा।

मुनिराज का सङ्ग मुझे बहुत उत्साह जागृत करा रहा था और उनका शान्तस्वरूप मुझे मेरे आत्मस्वरूप की प्रतीति उत्पन्न करा रहा था। मुनिवरों के क्षणभर के समागम से ही मेरे परिणाम में कोई आश्चर्यजनक महान् परिवर्तन हो रहा था.... मुनिराज ने मुझे आत्मज्ञान कराने के लिए बहुत प्रेम से कहा –

'हे भव्य! अन्दर में देख.... आत्मा कितनी सुन्दर वस्तु है! स्व से एकत्वरूप और पर से विभक्तरूप वह कैसी शोभती है! उसमें चैतन्यसुख का खजाना भरा हुआ है।'

मैंने अपने अन्दर देखा – 'अहो, अद्भुत! आश्चर्यकारी!! जिसे देखकर मेरी प्रसन्नता का पार नहीं रहा... बस! अपनी आत्मा को देखते ही मेरा अज्ञान दूर हो गया। आत्मा के शान्तरस के स्वाद से महान तृप्ति हुई... उस समय मुझे क्रूर कषायपरिणाम से भिन्न आत्मा का भान हो गया... और कषाय से भिन्न शान्त परमात्मतत्त्व को जानकर, मैं भी परमात्म-पन्थ का पथिक बन गया। इसके बाद आत्मसाधना करते-करते दस भव बाद मैं भी तीर्थङ्कर महावीर बनूँगा।'

इस प्रकार मुनिवरों के क्षणिक समागम से मुझे जो महान आत्मलाभ हुआ, उसकी यह सुन्दर बात सुनकर हे साधर्मी मित्रों! तुम भी ज्ञानियों का, मुनिराजों का सत्सङ्ग करो और आत्मलाभ प्राप्त करो....।●

– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

3

सुबह का भूला

मालवादेश की उज्जयिनी नगरी में सिंह नाम का एक धर्मवत्सल राजा राज्य करता था। उसको कोई पुत्र नहीं था। पुत्र के बिना उसे सम्पूर्ण वैभव तृणतुल्य लगता था। पुत्र बिना मेरे वीरवंश की रक्षा कैसे होगी? इसकी चिन्ता राजा को निरन्तर रहती थी।

एक दिन राजा, रानी के साथ वनक्रीड़ा के लिये गया। वहाँ एक सरोवर के समीप टहलते हुए अचानक उसकी दृष्टि एक मुँज के खेत में पड़े हुए अँगूठा चूसते एक बालक पर पड़ी। राजा ने प्रेम से उस बालक को गोद में उठा लिया और जाकर रानी को दिया। रानी को उसे देखते ही पुत्रवत् वात्सल्य उत्पन्न हो गया। राजा उस पुत्र को घर ले आया। किसी को मालूम न पड़े, इसलिए राजा ने रानी के गूढ़गर्भ से पुत्रोत्पत्ति की घोषणा करके महान् उत्सव किया। प्रजा भी राजा की गोद भरने से प्रसन्न हुई।

बालक मुँज के नीचे मिला, इसलिए राजा ने उसका नाम मुँज रख दिया। गुरु के पास सम्पूर्ण कलाओं में शिक्षित होने पर

योग्यवय में उसका विवाह रत्नावती नामक एक सुन्दर राजकन्या के साथ कर दिया गया।

इधर कुछ दिनों में राजा सिंह की रानी ने स्वयं गर्भ धारण किया। पुत्र-जन्म पर राजा ने पहले से अधिक आनन्द के साथ उत्सव मनाया। पुत्र का नाम सिंहल रखा गया। विवाह योग्य होने पर सिंहल का विवाह भी मृगावती नाम की राजकन्या के साथ कर दिया गया।

मृगावती के कुछ दिनों बाद शुभमुहूर्त में युगल पुत्र हुए, ज्येष्ठ पुत्र का नाम शुभचन्द्र और छोटे पुत्र का नाम भर्तृहरि रखा गया। दोनों बालक बचपन से ही धर्मरुचिवाले और प्रखरप्रज्ञा से सम्पन्न थे। युवावस्था प्राप्त होने पर दोनों तत्त्वज्ञान में निष्णात हो गये।

एक दिन बादलों के रङ्ग को बदलते हुए देखकर राजा सिंह को संसार की क्षणभङ्गुरता का विचार आया और वैराग्यपूर्वक तत्क्षण अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर जिनदीक्षा धारण कर ली।

★★★

एक दिन राजा मुँज और सिंहल वनक्रीड़ा से लौट रहे थे, तभी उन्होंने मार्ग में एक तेली को गर्वोन्मत सांड की तरह कंधे पर कुदाली रखे हुए खड़ा देखा।

मुँज ने कौतूहलपूर्वक पूछा – 'इस तरह क्यों खड़ा है?'

'मैंने एक अपूर्व विद्या साधी है, उसके प्रभाव से मुझमें इतना बल है कि मुझे कोई जीत नहीं सकता' – तेली ने गर्व से उत्तर दिया।

राजा ने उसका घृणायुक्त परिहास करते हुए कहा – अरे! तेली भी कभी बलवान हुए हैं?

यह सुनकर तेली ने एक लोहे का दण्ड बड़े जोर से जमीन में गाड़ दिया और बोला – 'महाराज! आपके सामन्तों में यदि कोई वीरता का घमण्ड रखता हो तो इस दण्ड को उखाड़कर मेरे बल की परीक्षा करे।'

मुँज का इशारा पाकर सामन्तगण उसे उखाड़ने का प्रयत्न करने लगे किन्तु उसे हिला भी न सके। तब राजा सिंहल वीरों का अपमान होता देखकर स्वयं उठ खड़े हुए और एक हाथ से ही लोहदण्ड को उखाड़ फेंका और बोले – 'अब मेरा गाड़ा हुआ दण्ड कोई उखाड़े ?'

तब वह तेली सम्पूर्ण बल लगाकर थक गया, किन्तु उसे हिला भी न सका और लज्जित होकर हट गया। अन्य सामन्तगण भी अपना बल आजमा चुके, पर सब निराश होकर लौट गये।

अन्त में राजकुमार शुभचन्द्र और भर्तृहरि ने मुँज के सामने हाथ जोड़कर आज्ञा माँगी – 'तात्! यदि आपकी आज्ञा हो तो हम लोग इस लोहदण्ड को उखाड़ें।'

'पुत्रों! अभी तुम लोगों का यह काम नहीं है, अभी तुम अपने साथी बालकों के साथ ही कुश्ती लड़ना सीखो।' – मुँज ने हँसकर उनकी बात को टाल दिया।

बालक बोले – 'महाराज! सिंह को हाथी का मस्तक विदारण करना कौन सिखाता है ? हम आपके ही पुत्र हैं, आपका ही खून हमारी रगों में बह रहा है। इस दण्ड को तो हम बिना हाथ लगाये ही उखाड़कर फेंक सकते हैं, यदि ऐसा न कर सकें तो हम क्षत्रिय-पुत्र नहीं।'

बालकों का हठ देखकर राजा ने उन्हें आज्ञा दे दी। तब कुमारों ने बालों की चोटी से फन्दा लगाकर एक ही झटके में लोहदण्ड को उखाड़कर फेंक दिया। चारों ओर लोग उनकी वीरता को सराहने लगे, धन्य-धन्य की ध्वनि गूँज उठी।

★★★

'तृष्णा की खाई बुरी होती है, वह नागिन की तरह जीव को डस लेती है। उससे डसा हुआ व्यक्ति उन्मत्त हो जाता है। वह कुछ भी अनर्थ करने को तैयार हो जाता है।'

बालकों के कौतुक को देखकर राजा मुँज को भ्रम हो गया कि इनके बल का कोई ठिकाना नहीं। इनके रहते मेरे राज्य सिंहासन की कुशलता नहीं हो सकती। ये कभी भी मुझे राज्य सिंहासन से च्युत कर सकते हैं, इसलिए मार्ग के काँटों को हटा देना ही ठीक रहेगा। विषवृक्ष के अङ्कुरों का नष्ट कर देना ही बुद्धिमानी है, अन्यथा कभी भी धोखा हो सकता है।

राजा ने तत्काल मन्त्री को बुलाकर अपना अभिप्राय प्रगट कर दिया। मन्त्री ने बहुत समझाया, पर मुँज ने उनकी एक नहीं सुनी और शीघ्र आज्ञा पालन करने का आदेश दे दिया।

बहुत प्रयत्न करने पर भी मन्त्री का हृदय इस कुकृत्य को करने को तैयार नहीं हुआ। तब उसने एकान्त में राजपुत्रों को बुलाकर मुँज के भयङ्कर विचार को प्रगट कर दिया और उज्जयिनी छोड़कर चले जाने की सलाह दी। राजकुमारों ने अपने पिता से जाकर उक्त बात कही दी और बोले, 'अब हमारा क्या कर्तव्य है ?'

मुँज के पापी विचार सुनकर सिंहल का क्रोध भड़क उठा और बोला – 'जाओ मुँज के षड्यन्त्र को सफल होने के पहले उसे यमलोक पहुँचा दो।'

उदार हृदय तत्वरसिक कुमार, पिता की बात सुनकर बोले – 'तात्! यह कृत्य हम लोगों के योग्य नहीं है। हमें तो वे भी आपके समान ही पूज्य हैं, उन्हें मारकर पाप और अपयश की गाँठ हम क्यों बाँधे। वे अपने पाप का फल स्वयं भोगेंगे।'

'अहो! हम किसके लिये पाप करें? यह देह भी क्षण में बिखर जाएगी। राज्य-सम्पदा बादलों की तरह विघट जाएगी और आत्मा, नीच गति में परिभ्रमण के लिए चला जाएगा। सारा संसार स्वार्थ का साथी है। अरे! यह भोग उच्छिष्टवत् भोगने योग्य नहीं है, ये ही समस्त अनर्थ की जड़ हैं।'

– ऐसा विचार करके दोनों भाई वहाँ से विरक्त होकर चल दिये। पिता आप्लावित स्नेहार्द्र नेत्रों से उन्हें देखते रह गये।

★★★

'राज्य की तृष्णा और विद्वेष की भावना में जीव अपने पिता, पुत्र, भाई का भी अहित कर देता है। न जाने इस राज्य के लोभ में आज तक कितनी हत्याएँ हुई हैं। राज्य का लोभ भयङ्कर युद्ध तक को भी जन्म दे देता है।'

जब रास्ते का काँटा हट गया तो काँटे के मूल पर मुँज की नजर पड़ी और उसको भस्म करने की निकृष्ट भावना उसके हृदय में उत्पन्न हो गयी। शुभचन्द्र और भर्तृहरि के चले जाने के

बाद भी मुँज का भ्रम नहीं मिटा और वह उनके पिता सिंहल को भी मारने की सोचने लगा।

एक बार एक मदोन्मत्त हाथी उन पर छोड़ा किन्तु उन्होंने उसे अपने वश में कर लिया। अन्त में एक दासी के द्वारा, जो उनका तेल मर्दन करती थी, उनकी आँखें फुड़वा दी, तब जाकर उसे चैन मिला। अरे! भाई के द्वारा भाई की यह दशा!

सिंहल के अन्धे हो जाने के बाद मुँज को बहुत पश्चाताप हुआ, परन्तु कमान से तीर छूट जाने के बाद कहाँ वापिस आता है? पश्चात् मुँज भी अपने पाप का फल भोगता हुआ बहुत क्लेशपूर्वक मरण को प्राप्त हुआ क्योंकि पापी अपने किये का फल स्वयं ही पाता है।

'पुण्य से वैभव मिलता है, वैभव से मद होता है, मद से जीव की मति भ्रष्ट होती है और मतिभ्रष्ट जीव, पाप करता है, पश्चात् पाप से संसार में अपार दुःख भोगता हुआ परिभ्रमण करता है।'

★★★

'सिंहवृति शूरवीर मुनिवरों के रहने का स्थान तो वन -जङ्गल ही है। ये राज्य, नगर, महल, मकान तो भोगियों के आयतन हैं; योगियों के नहीं। वन, विरक्ति का आयतन है और

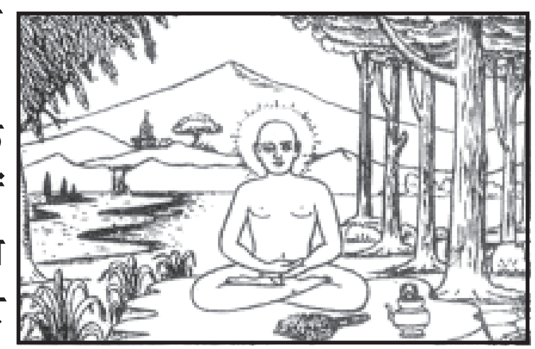

घर, अनुरक्ति का। योगियों की प्रवृत्ति तो भोगियों से सर्वथा अलग होती है। संसार, शरीर और भोगों से विरक्त पुरुषों की शुद्ध साधनाभूमि तो शान्त एकान्त स्थल वन -जङ्गल ही हैं।'

'मुनिधर्म तो शूरवीरों की साधना है; कायरों की नहीं। जो पुरुष, कर्म में शूरवीर होता है, वह धर्म में भी शूरवीर ही होता है।'

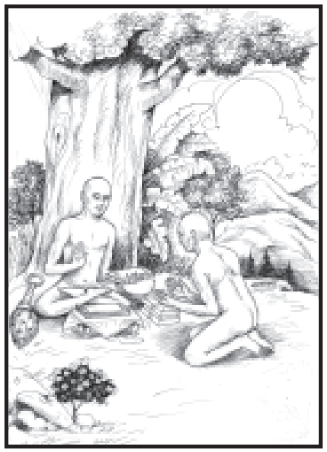

विरक्त हृदय शुभचन्द्र, वन में जाकर नग्न दिगम्बर मुनिराज के पास दीक्षित हो गये और उत्कृष्ट चारित्र का पालन करते हुए घोर तपश्चरण करने लगे।

भर्तृहरि को रास्ते में एक धर्म के लुटेरे ने लूट लिया। वे एक तन्त्रवादी साधु के चक्कर में फँस गये और उसके संघ में दीक्षित हो गये। उन्होंने जटायें रख लीं, भस्म रमा ली, कमण्डल और चीमटा ले लिया तथा कन्दमूल का भक्षण करते हुए स्वयं मन्त्र-साधना करने लगे।

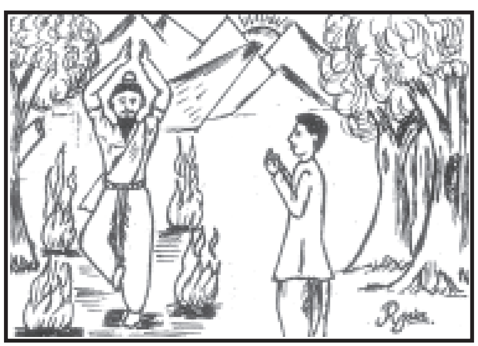

अरे! घोर मिथ्यात्व के संस्कार तो जीव को सत्समागम मिलने पर भी छूटना दुर्लभ है, तो अभागय से जिसे समागम

ही खोटा मिले, उसकी होनहार का क्या किया जाए? जिन कुगुरुओं का दर्शन और अनुमोदन ही जीव को मूर्च्छित कर देता है, वे धर्म के लुटेरे जगत् में कदम-कदम पर बैठे हैं।

बारह वर्ष उनके पास रहकर भर्तृहरि ने बहुत-सी विद्या, यन्त्र-तन्त्र-मन्त्र सीखकर वहाँ से चलने का विचार किया, तब गुरु ने एक सत् विद्या और जिस रस के संसर्ग से ताँबा स्वर्ण हो जाता था, ऐसी एक रसतुम्बी लेकर जाने की आज्ञा दे दी। भर्तृहरि वहाँ से चल दिये और एक स्वतन्त्र आसन जमा लिया। धीरे -धीरे 'चमत्कार को नमस्कार' - इस उक्ति के अनुसार उनके अनेक शिष्य हो गये। रसतुम्बी के प्रभाव से वहाँ सब प्रकार के सुख-साधन सहज सुलभ हो गये।

यश और मान का लोभ, जीव को पथभ्रष्ट कर देता है। यदि जगत् में मान न होता तो शायद यही मोक्ष होता। जीव सब-कुछ छोड़ सकता है किन्तु मान नहीं छोड़ सकता; वह छोड़ने का भी मान कर लेता है। मानी जीव बिना बुलाये भगवान के यहाँ भी नहीं जाता।

जिसके मन में घर होता है, वह वन में जाकर भी घर बसा लेता है। ज्ञानी का तन, घर में रहता है तो भी मन, वन में होता है और अज्ञानी का तन, वन में भी हो तो भी मन, घर में ही होता है।

★★★

सुखपूर्वक रहते हुए भर्तृहरि को एक दिन बड़े भाई का ख्याल आया। वे कहाँ है? कैसे हैं? किस तरह उनका सुख

-दु:खपूर्ण जीवन-निर्वाह होता होगा ? - यह सोचकर उन्होंने अपने एक शिष्य को शुभचन्द्र की खबर लेने भेजा। शिष्य जङ्गल में भटकता हुआ जैसे-तैसे उनके पास पहुँच गया।

शुभचन्द्र को देखते ही वह अवाक् रह गया। अरे! इनके पास तो शरीर ढकने के लिए चार अङ्गुल वस्त्र भी नहीं है, पिच्छी और कमण्डल के सिवा इनके पास कुछ भी नजर नहीं आता। यहाँ इन्हें कौन भोजन देता होगा ? कौन इनके दु:ख-दर्द को सुनता होगा ? अरे रे! बेचारे कितने दु:खी हैं! देह भी क्षीण हो गई है! मुझसे तो इनकी दरिद्रता देखी नहीं जाती। कहाँ ये और कहाँ इनका भाई... ?

भिखारी, चक्रवर्ती के वैभव की कल्पना भी नहीं कर सकता। कुएँ का मेढ़क सागर की गहराई नहीं आँक सकता; उसी तरह उच्छिष्ट भोगों के भिखारी, मुनिराज के स्वाधीन आत्मिकसुख की कल्पना भी नहीं कर सकते।

शिष्य दो दिन रहा तो उपवास और करने पड़े, तीसरे दिन वह उन्हें प्रणाम करके चला आया। आकर गुरु से बोला - 'महाराज! आपके भाई तो बहुत कष्ट में हैं और तो और तन ढँकने को चार अङ्गुल वस्त्र भी उनके पास नहीं है। मैं दो दिन रहा तो दो उपवास करके आया, फिर घोर जङ्गल में उनके भोजन-पानी की कौन पूछता होगा ? आप शीघ्र उन्हें दरिद्रता से मुक्त करावें।'

अपने भाई की यह बात सुनकर भर्तृहरि को बहुत दु:ख हुआ। उन्होंने उसी समय तुम्बी में से आधा रस निकालकर दूसरी

तुम्बी में रखकर उसी शिष्य को दिया और कहा - 'भाई को यह दे देना और कहना कि अब इससे मनोवाञ्छित स्वर्ण तैयार करके दरिद्रता से मुक्त हो जाएँ और सुख-चैन से रहें।'

शिष्य तत्काल वहाँ से रवाना हो गया। मुनिराज शुभचन्द्र के समीप जाकर रसतुम्बी समर्पण की और उसके गुणों का वर्णन करके भाई का सन्देश कह सुनाया।

'इसे पत्थर पर डाल दो' - शुभचन्द्र ने कहा।

सुनकर शिष्य आश्चर्यचकित रह गया और बोला - 'महाराज! आप इतनी महत्वपूर्ण वस्तु ऐसी व्यर्थ क्यों खोते हो ? इसका प्रयोग करके तो देखें।'

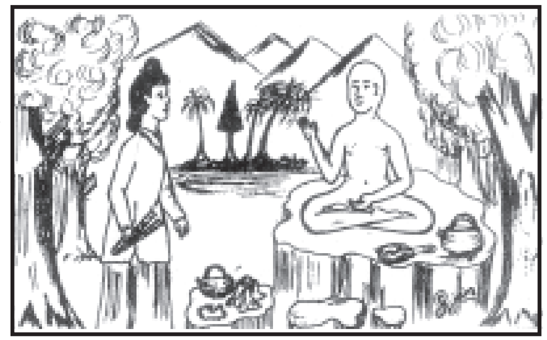

मुनिराज बोले - 'इसे फेंक दो, नहीं तो ले जाकर अपने गुरु को वापिस कर देना।'

सुनकर शिष्य विचारने लगा - 'कैसा अभागा है! सारा जगत् जिसके पीछे दौड़ रहा है, यह मूर्ख उसे धूल में मिलाना चाहता है। इसकी होनहार ही खोटी है। लेकिन... वापिस ले जाता हूँ तो गुरुजी नाराज होंगे। अरे... जब उन्होंने इसे दे ही दिया तो मुझे क्या ? जो इसे रुचे सो करे।'

पश्चात् वह पत्थर पर रस उड़ेलकर गुरु के पास वापिस लौट गया।

★★★

भर्तृहरि आशा लगाये थे कि भाई मेरी साधना का फल देखकर प्रसन्न होंगे, पर शिष्य की बात सुनकर उनकी आशाओं पर पानी फिर गया।

वे उदास चित्त से सोचने लगे – 'शायद इसने रस का यथार्थ गुण वर्णन नहीं किया होगा; इसलिए उन्होंने रस फिकवा दिया होगा।'

अत: भर्तृहरि स्वयं अपनी शिष्य मण्डली के साथ बचा हुआ रस साथ में लेकर भाई से मिलने गये। वहाँ पहुँचकर विनम्रता से मुनिराज शुभचन्द्र को नमस्कार किया, पश्चात् वह रसतुम्बी भेंट-स्वरूप आगे रख दी।

'इसमें क्या है ?' – शुभचन्द्र ने पूछा।

'महाराज! इसमें रसभेद रस है, इसके स्पर्श से ताँबा, स्वर्ण हो जाता है; बड़े परिश्रम से इसे प्राप्त किया है।'

शुभचन्द्र ने तुम्बी उठाकर पत्थर से मार दी और कहा – 'यह पत्थर स्वर्ण क्यों नहीं हुआ? इसका गुण पत्थर से लगने पर कहाँ चला गया?'

यह देखकर भर्तृहरि अवाक् रह गये, उनके पैर के नीचे से जमीन खिसक गई, मानो उनका सर्वस्व लुट गया हो, अरे! उसके बल पर ही तो उनका आसन टिका था। वे भीगे हृदय से बोले –

'आपने यह क्या अनर्थ किया है? मेरी बारह वर्ष की साधना धूल में मिला दी। यह आपने बुद्धिमानी का काम नहीं किया। आपको किस बात का गर्व है? आपने भला इतने

वर्षों में क्या कला-चातुर्य प्राप्त किया है और कौन-सी प्रसिद्धि की है।'

मुनिराज शुभचन्द्र भरे हृदय से बोले – 'अरे! मैंने जगत की कला-चातुर्य के लिये घर नहीं छोड़ा। तुम्हें अपने रस के नष्ट होने का इतना रंज है! अरे, यदि स्वर्ण कमाने की ही इच्छा थी तो घर-बार क्यों छोड़ा? वहाँ कौन से स्वर्ण-रत्नों की कमी थी? **मूर्ख! जिन संसार के दु:खों से भयभीत होकर तूने घर छोड़ा, उन संसार-दु:खों की निवृत्ति इन तन्त्र-मन्त्र और रसों से नहीं होगी। मन्त्र-तन्त्रों की सिद्धि के लिये साधुओं की साधना नहीं है। यह तो तूने अमृत छोड़कर विष पीने का कार्य किया है।**

हे दुर्बुद्धि! चिन्तामणि रत्न को खोकर काँचखण्ड पर क्या इतराता है? जिस पुण्य के फल से इन्द्र और चक्रवर्ती की विभूति मिलती है, वह पुण्य ज्ञानियों के चरणों में लोटता है।''

चक्रवर्ती की सम्पदा, इन्द्र सरीखे भोग।
काग-बीट सम गिनत हैं, सम्यग्दृष्टि लोग॥

'जिस धूल को छोड़ा, उसी धूल के लिये तूने जीवन के अमूल्य बारह वर्ष बर्बाद कर दिये। धिक्कार है तेरी साधना को!! कहाँ गया तेरा ज्ञान? जरा से रस के लिये विवाद करके मेरी कला -चातुर्य जानना चाहता है! मुझमें न कोई कला है, न चतुरता; फिर भी तप में वह शक्ति है कि अशुचि की धारा से ही यह पर्वत स्वर्णमयी हो सकता है?'

इतना कहकर मुनिराज शुभचन्द्र ने अपने पैर के नीचे की थोड़ी-सी धूल उठाकर पास में पड़े शिलाखण्ड पर डाल दी, डालते ही सम्पूर्ण पत्थर की शिला स्वर्णमयी हो गयी।

– यह देखकर भर्तृहरि और उनके शिष्य आश्चर्यचकित रह गये, उनका अभिमान चूर-चूर हो गया। भर्तृहरि अपने बड़े भाई के चरणों में गिर गये, नेत्र आप्लावित हो गये और पश्चाताप करते हुए बोले –

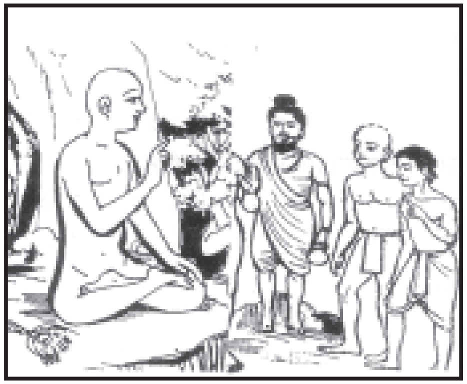

'भगवन्! क्षमा कीजिये, मैंने आपकी बहुत अविनय की है, मैं आपकी महिमा और जैनधर्म का प्रताप नहीं जान पाया, मैंने अपराध किया है। मैं भ्रम से भूलकर मार्ग भटक गया। मन्त्र, तन्त्र, विद्या और यश के लोभ में मैंने मनुष्यपर्याय का इतना समय व्यर्थ खो दिया और पापोपार्जन किया। अब कृपा करके मुझे भी इस लोकोत्तर मार्ग में दीक्षित कीजिये, जिससे मैं भी संसार-दु:खों से मुक्त हो सकूँ।'

इस प्रकार भर्तृहरि को उपशान्त चित देखकर मुनिराज शुभचन्द्र ने उन्हें विस्तृत रीति से धर्मोपदेश दिया, तब उनके हृदय-कपाट खुल गये और वे उसी समय दीक्षित होकर दिगम्बर मुनि हो गये, पश्चात् घोर तपश्चरणपूर्वक आत्मसाधना में रत हो गये।

'अहो! धन्य थी वह घड़ी कि जब सुबह का भूला शाम को घर वापिस आ गया था।' ●

– पण्डित राजकुमार शास्त्री

4

क्षमामूर्ति बालि मुनिराज

इस भूतल पर सर्वत्र यह विदित है कि मनुष्यादि प्राणियों को उपजाऊ भूमि ही सदा जीवनोपयोगी खाद्य पदार्थ प्रदान करती है। सजलमेघ ही सदा एवं सर्वत्र स्वच्छ, शीतल जल प्रदान करते हैं। इसी प्रकार इस जम्बूद्वीप में अनेक खण्ड हैं, उनमें से जिस खण्ड के प्राणी धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष पुरुषार्थ को साधकर मुक्तिसुन्दरी के बल्लभ होते हैं, उसी खण्ड को उनकी इस आर्यवृत्ति के कारण आर्यखण्ड नाम से जाना जाता है। इसी आर्यखण्ड की पुष्पवती किष्किंधापुरी नामक नगरी में विद्याधरों के स्वामी कपिध्वजवंशोद्भव अर्थात् वानरवंशी महाराजा बालि राज्य करते थे।

एक दिन सदा स्वरूपानन्द विहारी, निजानन्दभोगी, सिद्ध सदृश्य पूज्य मुनिवरों का संघसहित आगमन इसी किष्किंधापुरी के वन में हुआ, जिन्हें देख वन के मयूर आनन्द से नाचने लगे। कोयलें अपनी मधुर ध्वनि से कुहुकने लगीं, मानों सुरीले स्वर में गुरु-महिमा के गीत गा रही हों। पक्षीगण प्रमोद के साथ गुरु समूह के चारों ओर उड़ने लगे, मानो वे श्री गुरुओं की प्रदक्षिणा

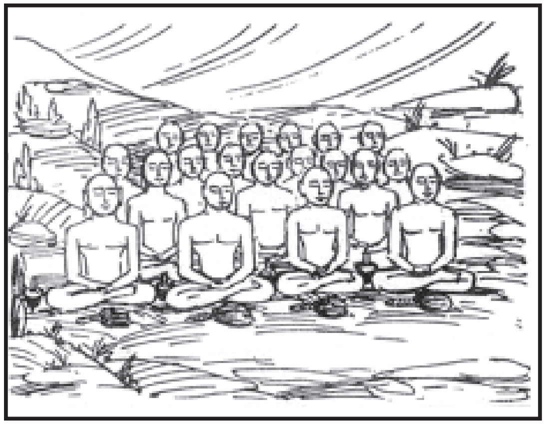

दे रहे हों। वनचर प्राणी गुरुगम्भीर मुद्रा को निरखकर अपने आगे के दोनों पैर रूपी हाथों को जोड़कर मस्तक नवाकर नमस्कार करके गुरु पदपङ्कजों के समीप बैठ गये। सदा वन में जीवन-यापन करनेवाले मनुष्यों ने तो मानो अनुपम निधि ही प्राप्त कर ली हो।

वन में मुनिराज को देखकर वनपाल का हृदय पुलकित हो गया और वह दौड़ता हुआ राजदरबार में पहुँचा और हाथ जोड़कर राजा साहब को मङ्गल सन्देश देता हुआ बोला -

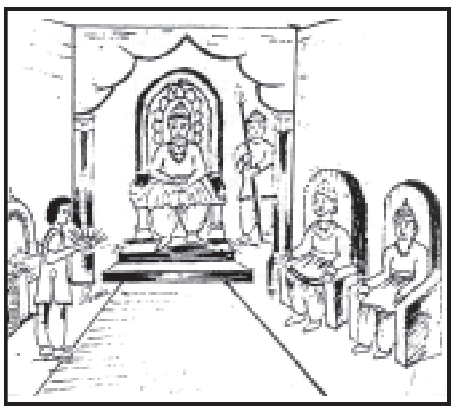

'हे राजन्! आज हमारे महाभाग्य से अपने ही वन में संघसहित मुनिराज का मङ्गल आगमन हुआ है।'

महाराजा बालि ने तत्काल हाथ जोड़कर मस्तक नवाकर गुरुवर्यों को परोक्ष नमस्कार किया, पश्चात् वनपाल को भेंटस्वरूप बहुत-सी धनराशि प्रदान की। उसे पाकर वनपाल अपने स्थान को लौट आया।

महाराजा बालि ने मन्त्री को बुलाकर कहा - 'आज नगर में मुनिवरों के दर्शनार्थ चलने की भेरी बजवा दीजिए।'

महाराजा की आज्ञानुसार मन्त्री ने तत्काल नगर में भेरी बजवा दी - 'हे नगरवासीजनो! आज हम सभी को मुनिवरों के दर्शन हेतु राजा साहब के साथ वन को चलना है; अतः शीघ्र ही राजदरबार में एकत्रित होइये।'

भेरी का मङ्गल नाद सुन प्रजाजन शीघ्र ही द्रव्य-भावशुद्धि के साथ अपने-अपने हाथों में अर्घ्य की थाली लेकर राजदरबार में एकत्रित हुए।

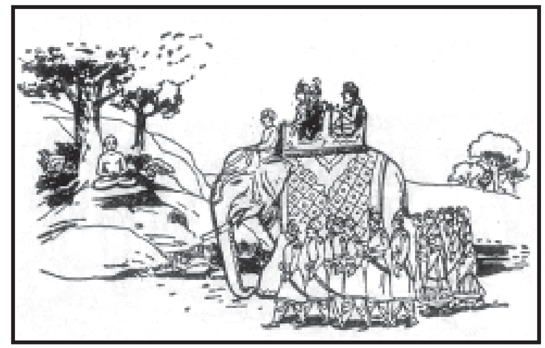

राजा बालि गजारूढ़ हो अपने साधर्मियों के साथ मङ्गल भावना भाते हुए वन में जा रहे हैं। राजा साहब देखते हैं कि आज तो जङ्गल की छटा ही कुछ निराली दिख रही है, मानो गुरु हृदय की परम शान्ति का प्रभाव वन के पेड़-पौधों पर भी पड़ गया हो। इन सबमें भी तो शाश्वत् परमात्मा विराजमान है और आत्मा का स्वभाव सुख-शान्तिमय है। ये सभी सदा दुःख से डरते हैं और सुख को चाहते हैं, भले ही इनमें ज्ञान की हीनता से यह ज्ञात न हो कि मेरे परमहितकारी गुरुवर पधारे हैं परन्तु अव्यक्तरूप से उनकी परिणति में कुछ कषाय की मन्दताजन्य शान्ति का सञ्चार अवश्य हो जाता है - ऐसा ही निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है।

प्रत्येक आत्मा को भगवानस्वरूप देखते हुए, विचारते हुए राजा साहब साधर्मियोंसहित पूज्य गुरुवर चरणारविन्दों के समीप जा पहुँचे। सभी ने पूज्य गुरुवर्यों को हाथ जोड़कर साष्टाङ्ग नमस्कार किया, तीन प्रदक्षिणा दीं, फिर गुरुचरणों में सभी हाथ जोड़कर उनकी शान्त-प्रशान्त वैरागी मुद्रा को टकटकी लगाकर देखते हुए बैठ गये। अहा हा! ज्ञान-वैराग्यमयी परमशान्त मुद्रा, चैतन्य का अन्तर वैभव बाहर जड़ पुद्गल पर छा गया था। मुनिसंघ, सिद्धों से बातें करते हुए ध्यानस्थ अडोल-अकम्प विराजमान था।

धर्मामृत के पिपासु चातक तो बैठे ही हैं। कुछ समय के बाद मुनिराजों का ध्यान भङ्ग हुआ। महा-विवेक के धनी गुरुराज ने प्रजाजनों के नेत्रों से उनकी पात्रता एवं भावना को पढ़ लिया; अत: वे उन्हें धर्मोपदेश देने लगे।

★ ★ ★

मुनिराजश्री ने धर्मामृत वर्षा करते हुए कहा - हे भव्यो! धर्मपिता श्री तीर्थङ्कर परमदेव ने धर्म का मूल सम्यग्दर्शन कहा है। सच्चे देव -शास्त्र-गुरु के यथार्थ श्रद्धान को ही सम्यग्दर्शन कहते हैं। जो निजात्मा के आश्रय से रत्नत्रय को प्राप्त कर अर्थात् मुनिधर्म साधन द्वारा अनन्त चतुष्टय प्राप्त करके वीतरागी, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी हो गये हैं, वे ही हमारे

सच्चे आप्त / देव हैं। वे ही अपने केवलज्ञान के द्वारा जाति अपेक्षा अनन्तानन्त द्रव्यों को, सात तत्त्वों को, नव-पदार्थों को, ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध को, कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य आदि सम्बन्धों को अर्थात् तीन लोक और तीन काल के चराचर पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष एक ही समय में जानते हैं एवं अपनी दिव्यध्वनि द्वारा दर्शाते हैं; अत: प्रभु की वाणी ही जिनवाणी या सुशास्त्र कहलाते हैं।

हमारे देव क्षुधा, तृषा आदि अठारह दोषों से रहित और सम्यक्त्वादि अनन्त गुणों से सहित हैं। यही कारण है कि उनकी वाणी परिपूर्ण शुद्ध, निर्दोष एवं वीतरागता की पोषक होती है। उस वाणी के अनुसार जिनका जीवन है, जो परम दिगम्बर मुद्राधारी हैं, ज्ञान-ध्यानमयी जिनका स्वरूप है, जो चौबीस प्रकार के परिग्रह से रहित हैं, वे ही हमारे सच्चे गुरु हैं। भवदु:ख से भयभीत, अपने हित का इच्छुक भव्यात्मा, ऐसे देव-शास्त्र-गुरु की आराधना करता है।

इनके अतिरिक्त जो मोहमुग्ध देव हैं, संसार पोषक अनागम हैं और रागी-द्वेषी एवं परिग्रहवन्त गुरु हैं, वे वन्दनीय नहीं हैं, उनकी वन्दना कभी नहीं करना चाहिए, क्योंकि वीतराग-धर्म, गुणों का उपासक है, किसी व्यक्ति अथवा भेष का नहीं; इसलिए श्री पञ्च परमेष्ठियों की वीतरागीवाणी और वीतरागीधर्म के अलावा और किसी को नमन नहीं करना चाहिए। वस्तुत: पञ्च परमेष्ठी और उनकी वाणी के अतिरिक्त सभी धर्म के लुटेरे हैं और मिथ्यात्व के पोषक हैं, अनन्त दु:खों के कारण हैं।

हे भव्यों! सच्चे देव-शास्त्र-गुरु; सात तत्त्व; हितकारी-अहितकारी भाव; स्व-पर इत्यादि मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व हैं, उनकी विपरीतमान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं। इस विपरीतअभिप्राय के वश होकर यह प्राणी अनन्त काल से चौरासी लाख योनियों में भ्रमता हुआ अनन्त दु:ख उठाता आ रहा है।

यह जीव, निगोदादि पर्यायों से निकलकर महा-दुर्लभ त्रसपर्याय को प्राप्त करता है, उसमें भी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, मनुष्यपर्याय, श्रावककुल, सत्यधर्म का पाना अति दुर्लभ है, यदि ये भी मिल गये तो सत्सङ्गति और सत्यधर्म को ग्रहण करने की बुद्धि की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। सत्यधर्म को अवधारण करने के लिए कषायों की मन्दता होना महादुर्लभ है।

हे भव्योत्तम! इतनी दुर्लभता तो तू महाभाग्य से पार कर चुका है; इसलिए सच्चे देव-शास्त्र-गुरुओं के उपदेश से तू अब मिथ्यामान्यताओं का परित्याग करके वस्तुस्वरूप को ग्रहण कर। भाई! यह धर्म ही संसार सागर से पार उतारनेवाला सच्चा जहाज है।

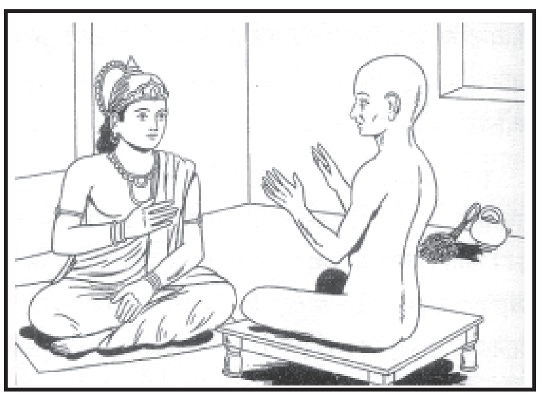

श्रीगुरु का उपदेशामृत पानकर महाराजा बालि का मन-मयूर प्रसन्न हो गया। अहो, इस परम हितकारी शिक्षा को मैं आज ही अङ्गीकार करूँगा। अत: बालि अपनी भावनाओं को

साकार करने हेतु तत्काल ही श्रीगुरुचरणों में अञ्जुली जोड़कर नमस्कार करते हुए बोले – 'हे प्रभु! मुझे यह हितकारी व्रत प्रदान कर अनुगृहीत कीजिये।'

'हे भवभयभीरू नृपेश! तुम्हारी भली होनहार है; अत: आज तुम पञ्च परमेष्ठी, जिनवाणी, प्रजाजनों एवं निज आत्मा की साक्षीपूर्वक यह प्रतिज्ञा अङ्गीकार करो कि मैं पञ्च परमेष्ठी भगवन्तों, जिनवाणी माता और वीतरागी जिनधर्म के अलावा किसी को भी नमन नहीं करूँगा।'

बालि राजा हाथ जोड़कर नमस्कार करते हुए बोले – 'प्रभु! आपके द्वारा प्रदत्त इस हितकारी व्रत को मैं यमरूप से अङ्गीकार करता हूँ।' पश्चात् गुरु-वन्दना एवं स्तुति करके राजा अपने साधर्मियों व नगरवासियोंसहित अपने गृह को लौट आये।

कुछ दिनों के बाद पूज्य गुरुवर आहार-चर्या हेतु नगर में पधारे और पड़गाहन हेतु महाराजा बालि एवं नगरवासी अपने-अपने द्वार पर खड़े थे, उनका भाग्य चमक उठा और उन्हें महापात्र गुरुवरों के आहारदान का लाभ प्राप्त हो गया। नवधा भक्तिपूर्वक मुक्तिसाधक श्रीगुरुओं को दाताओं ने भक्तिपूर्वक आहारदान देकर अपूर्व पुण्य का सञ्चय किया और गुरु-महिमा गाते हुए उत्सव मनाते हुए, गुरुवरों के साथ वन

-जङ्गल तक गये। तत्पश्चात् यद्यपि सभी अपने-अपने घर आकर अपने नित्य-नैमित्तिक कार्यों को करते हैं परन्तु सबके हृदय में तो गुरुराज ही बस रहे हैं, यही कारण है कि उन्हें चलते-फिरते, खाते-पीते अर्थात् प्रत्येक कार्य में गुरु ही गुरु दिख रहे हैं।

★ ★ ★

महाराजा बालि की उक्त प्रतिज्ञा के समाचार जब लंकापुरी नरेश रावण ने सुने, तब उसे ऐसा लगा कि मुझे नमस्कार नहीं करने की इच्छा से ही बालि ने यह प्रतिज्ञा ली है, अन्यथा और कोई कारण नहीं है। मैं अभी इसको प्रतिज्ञा लेने का मजा चखाता हूँ।

लंकेश ने शीघ्र ही एक शास्त्रज्ञ विद्वान दूत को बुलवाया और आज्ञा दी – 'हे कुशाग्रमते! आप शीघ्र ही किष्किंधापुरी जाकर बालि नरेश को सूचित करो कि आप अपनी बहन श्रीमाला हमें देकर एवं नमस्कार करके सुख से अपना राज्य करें।'

विद्वान दूत राजाज्ञा शिरोधार्य कर शीघ्र ही किष्किंधापुरी पहुँचा, उसने राजा बालि के मन्त्री से कहा – 'आप अपने राजा साहब को सन्देश भेज दीजिये कि लंका नरेश का दूत आप से मिलना चाहता है।'

मन्त्री ने राजा के पास जाकर निवेदन किया – 'हे राजन्! लंकेश का दूत आपसे मिलने के लिये आया है, आपकी आज्ञा चाहता है।'

राजा साहब ने दूत को ले आने की स्वीकृति दे दी।

राजाज्ञा पाकर मन्त्री शीघ्र ही दूत को महाराजा बालि के समक्ष ले आया। राजा को नमस्कार करते हुए दूत ने लंका नरेश

का सन्देश कहा – 'हे राजन्! जगत विजयी राजा दशानन का कहना है कि आप और हमारे बीच परम्परा से स्नेह का व्यवहार चला आ रहा है, उसका निर्वाह आप को भी करना चाहिए। आपके पिताजी को हमने सूर्य के शत्रु अत्यन्त प्रचण्ड राजा को जीतकर उसका राज्य आप को दिया था; अतः उस उपकार का स्मरण करके आप अपनी बहन श्रीमाला लंकाधिपति को देकर, उन्हें नमस्कार करके सुखपूर्वक राज्य करना चाहिए।'

दूत की बात के उत्तर में राजा बालि ने कहा – 'हे राजदूत! राजा दशानन का उपकार मेरे हृदय में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित है, उसके फलस्वरूप मैं अपनी बहन श्रीमाला को समम्मान लंकेश को समर्पित करने के लिये तैयार हूँ किन्तु आपके महाराज को नमस्कार नहीं कर सकता।'

'हे राजन्! नमस्कार नहीं करने से आप का बहुत अपकार होगा। उपकारी का उपकार न माननेवाला जगत में कृतघ्नी कहलाता है। नमस्कार न करने का क्या कारण है राजन्?' – दूत ने कहा।

'हे कुशलबुद्धे! इतना तो आप जानते ही होंगे कि जिनधर्म में कोई पद पूज्य नहीं होता, कोई व्यक्ति या जाति पूज्य नहीं होती; जिनधर्म तो गुणों तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का उपासक होता है और आपके राजन् अविरति हैं। मेरी प्रतिज्ञा है कि मैं पञ्च परमेष्ठी के अलावा अन्य किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।'

'हे राजन्! लोकव्यवहार में धर्म नहीं देखा जाता है; अतः व्यर्थ में ही कषाय बढ़ाने से क्या फायदा है?'

'हे दूत! जो होना होगा, वह होगा; मैं प्रतिज्ञा से बढ़कर किसी लोकव्यवहार को नहीं मानता। आप अपने स्थान को पधारिये।'

विद्वान दूत शीघ्र ही किष्किंधापुरी से प्रस्थान करके कुछ ही दिनों में लंकापुरी पहुँच गया। राजा साहब के पास पहुँचकर निवेदन किया – 'हे महाराज! आपके सब उपकारों का उपकार मानते हुए बालि महाराज आपको अपनी बहन तो सहर्ष देने को तैयार हैं परन्तु नमस्कार करने को तैयार नहीं हैं।'

'क्यों! नमस्कार नहीं करने का क्या कारण है ?' – रावण ने कहा।

'हे राजन्! महाराजा बालि ने श्रीगुरु के समीप पञ्च परमेष्ठी के अतिरिक्त किसी अन्य को नमस्कार नहीं करने की प्रतिज्ञा अङ्गीकार की है। उनकी धार्मिक प्रतिज्ञा के सामने कुछ भी कहना मुझे उचित नहीं लगा।'

बस फिर क्या था, लंकेश तो भुजङ्ग के समान कुपित हो गये, उन्हें क्रोधित देखकर मन्त्रिगण एकदम गम्भीर हो गये। कुछ देर विचार-विमर्श करने के बाद मन्त्रिगणों ने राजा रावण से निवेदन किया – 'हे प्राणाधार! आप भी धार्मिक व्यक्ति हैं, पूजा-पाठ, दया, दान, व्रत आदि करते हैं, प्रतिदिन जिनवाणी का स्वाध्याय करते हैं; अतः इतना तो आप भी जानते ही हैं कि श्रीगुरुओं से ली हुई प्रतिज्ञाएँ, चाहे वे छोटी हों या बड़ी; उनका जीवनपर्यन्त निर्दोषरूप से पालन करना चाहिए। प्राणों की कीमत पर भी व्रतभङ्ग नहीं करना चाहिए। किसी की या अपनी प्रतिज्ञा को भङ्ग करने में महापाप लगता है।

अतः हम लोगों की सलाह है कि बालि नरेश आपको अपनी बहिन देने के लिये तो तैयार ही हैं और जो अपनी बहिन देगा तो आपका आदर सत्कार / साधुवाद तो करेगा ही करेगा, मात्र मस्तक झुकाना ही नमस्कार नहीं है। अपने हृदय में किसी को स्थान देना, आदर देना भी तो नमस्कार ही है और बालि नरेश के हृदय में आपके प्रति आदर तो है ही। इसलिए हे राजन्! आप हम लोगों की बात पर गम्भीरता से विचार कीजिये, एकदम क्रोध में आ जाना राज्य के हित में नहीं होता है।'

जिस प्रकार भैंस के आगे बीन बजाना, मूर्ख को शिक्षा देना और सर्प को दूध पिलाना व्यर्थ है; उसी प्रकार मन्त्रियों की योग्य सलाह भी लंकेश पर कुछ असर नहीं कर सकी। अहो! क्रोध के पास विवेक रहा ही कब है जो कुछ असर हो, वह तो सदा अन्धा ही होता है, सदा असुर बनकर भभकना क्रोध की प्रकृति ही है। जब विनाश का समय आता है, तब बुद्धि भी विपरीत हो जाती है। अन्ततोगत्वा रावण ने साम, दाम, दण्ड और भेद – सभी प्रकार से किष्किंधापुरी को घेर लिया।

★ ★ ★

जब राजा बालि ने किष्किंधापुरी के घिर जाने के समाचार सुने, तब वे भी युद्ध के लिये तैयार हो गये। बालि राजा के मन्त्रियों ने उन्हें बहुत समझाया – 'महाराजा! लंकेश आपके उपकारी हैं और आपके पास इतनी सेना भी नहीं है, इतने अस्त्र-शस्त्र भी नहीं हैं; रावण तो चार अक्छोहणी सेना का अधिपति है, उसके सामने अपनी सेना क्या है ? उपकारियों का अपकार करनेवाला राजा लोक में कृतघ्नी गिना जाता है; इसलिए हे

राजन्! हम लोगों की बात पर आप गम्भीरता से विचार कीजिए, क्रोधावेश में अधीरता उचित नहीं है।'

कितना भी विवेकी राजा क्यों न हो परन्तु जब कोई अन्य राजा उसे युद्धस्थल पर ललकार रहा हो, तब सामनेवाला शान्त नहीं बैठ सकता, यह उसकी भूमिकागत कषायों का प्रताप होता है। अतः महाराजा बालि ने भी मन्त्रियों की एक नहीं सुनी और अपनी सम्पूर्ण सेनासहित दशानन का सामना करने के लिये युद्धस्थल में आ गया।

दोनों की ओर सेनाएँ ज्यो ही युद्ध के लिए तैयार हुई, त्यों ही दोनों ओर के मन्त्रियों ने उन्हें विराम का सङ्केत किया और विचार किया कि लंकेश प्रतिवासुदेव हैं और महाराजा बालि चरमशरीरी हैं; अतः मृत्यु तो दोनों की असम्भव है, फिर व्यर्थ में सैन्यशक्ति का विनाश क्यों हो? अनेक माताएँ-बहिनें विधवा क्यों हों? निर्दोष बालक अनाथ क्यों हों? उन्हें रोटियों के टुकड़ों की भीख क्यों माँगनी पड़े? अतः श्रेष्ठ तो यही है कि दोनों राजा ही आपस में युद्ध करके हार-जीत का फैसला कर लें।

यह विचार कर दोनों राजाओं के मन्त्रियों ने अपने-अपने राजाओं से निवेदन किया - 'हे राजन्! आप दोनों ही मृत्युञ्जय हो; अतः आप दोनों ही युद्ध का कुछ हल निकाल लें तो उचित होगा, सेना का व्यर्थ ही संहार क्यों हो? यदि आप चाहें तो सैनिक युद्ध को टालकर दोनों ही राज्यों की सैन्यशक्ति तथा उस पर होनेवाले कोष की हानि से बचा जा सकता है।'

मन्त्रियों की बुद्धिमत्तापूर्ण सलाह दोनों ही राजाओं को उचित

प्रतीत हुई; अतः दोनों ही राजा युद्धस्थल में उतर पड़े। कुछ ही क्षणों में दोनों के बीच घमासान युद्ध छिड़ गया।

सम्पूर्ण सेना में कुछ विचित्र प्रकार का उद्वेग हो उठा, वे कुछ कर भी नहीं सकते थे और चुपचाप बैठा भी नहीं जा रहा था।

होनहार के अनुसार दोनों के अन्दर विचारों ने जन्म लिया। मोक्षगामी महाराजा बालि का तो वैराग्य वृद्धिङ्गत होने लगा और नरकगामी रावण का क्रोधासुर वृद्धिङ्गत होने लगा।

आ हा हा! महाराजा बालि तो चरमशरीरी थे ही; अतः उनके अतुल बल का तो कहना ही क्या था! दशानन को बन्दी बनाना उनके लिए चुटकियों का खेल था।

अरे! अर्द्धचक्री, चार अक्छोहणी सेना का अधिपति भी क्षणमात्र में बन्दी बना लिया गया। कोई शरणदाता नहीं होने पर भी अज्ञानी जीव, परद्रव्य को ही अपना शरणदाता मानकर दुःख के समुद्र में जा गिरता है। इस लोक में जहाँ-तहाँ जो हार नजर आती है, वह सब संसार शिरोमणि मिथ्यात्व बादशाह एवं उसकी सेना कषाय का ही प्रताप है।

धन-सम्पत्ति, अस्त्र-शस्त्र, हाथी-घोड़े, रथ-प्यादे एवं सेना की हीनाधिकता हार-जीत का कारण नहीं है - यह घटना प्रत्यक्ष प्रमाण है।

निकट भव्यजीव के लिए युद्ध अथवा युद्ध में विजय के नगाड़े, संसार-देह-भोगों से विरक्ति/वैराग्य का कारण बन जाते हैं। वे विचारते हैं कि आत्मस्वभाव अक्षयनिधि से भरपूर शाश्वत पवित्र तत्त्व है और जड़ सम्पदा क्षणभङ्गुर एवं अशुचि है।

जिनागम में पार्श्वनाथ और कमठ के; सुकमाल और श्यालनी के; सुकौशल और सिंहनी के; गजकुमार और सोमिल सेठ इत्यादि के अनेक उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैराग्य की सदा जीत होती है और मिथ्यात्व-कषाय की सदा हार होती है। मोह -राग-द्वेष के वशीभूत होकर चक्रवर्ती भी नरक में गये हैं और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना करनेवाले सिंह, हाथी इत्यादि भी मुक्तिपथ में विचरण करके शाश्वत् सिद्धदशा को प्राप्त हुए।

बन्दी बने रावण को अन्दर ही अन्दर कषाय प्रज्वलित होती जा रही है, उसके हृदय को वैरागी बालि महाराज ने पढ़ लिया था; अत: परम करुणावन्त महाराजा बालि ने रावण को बन्धन मुक्त करते हुए क्षमा किया और अपने भाई सुग्रीव का राज्यतिलक करके उसे रावणाधीन करके स्वयं ने वन की ओर प्रस्थान किया, क्योंकि उन्हें तो अब चैतन्य की परमशान्ति की ललक जाग उठी थी, अपने अतीन्द्रिय आनन्दधारा की घूँटें पीने की रुचि लगी थी। जब राज्य का राग ही अस्त हो गया तो राज्य करे कौन? वैरागी चरमशरीरियों का निर्णय अफरगामी होता है, जो कभी फिरता नहीं है।

★ ★ ★

न्याय नीतिवन्त, धर्मज्ञ राजा के राज्य में प्रजा सदा सुखी रहती थी, ऐसे राजा का वियोग! अरे रे.... हाहाकार मच गया, प्रजा के लिए तो मानो उनका वियोग असहनीय ही हो गया हो। अत: प्रजा अपने प्राणनाथ के पीछे-पीछे दौड़ी जा रही थी, कोई उनके चरणों को पकड़ कर विलाप करता था, तो कोई उन्हें

जिनेश्वरी दीक्षा लेने से इन्कार करता है। 'हे राजन्! हम आपकी साधना में अन्तराय नहीं डालना चाहते, परन्तु इतना निवेदन अवश्य है कि आप अपनी साधना, महल के उद्यान में रहकर कीजिए, जिससे हम सभी को भी आराधना की प्रेरणा मिलती रहेगी। हमारे हित में आप उपकारी बने रहें - ऐसी हमारी भावना है। आपके बिना हम प्राणरहित हो जाएँगे। हे राजन्! हमारी इतनी-सी विनती पर ध्यान दीजिये।' - प्रजाजनों के ये स्वर सर्वत्र गुञ्जायमान हो रहे थे।

मुक्तिसुन्दरी के अभिलाषी को रोकने में भला कौन समर्थ हो सकता है? निज ज्ञायकप्रभु के आश्रय से उदित हुए वैराग्य को कोई प्रतिबन्धित नहीं कर सकता। चरमशरीरियों का पुरुषार्थ अप्रतिहतभाव से चलता है, जो शाश्वत आनन्द को प्राप्त करके ही रहता है। शीघ्रता से बढ़ते हुए महाराजा बालि अब श्रीगुरु के चरणों की शरण में पहुँच गये। गुरु-पद-पंकजों को नमन कर अञ्जुली जोड़कर वे विनती करने लगे।

'हे प्रभु! मेरा मन अब अतीन्द्रिय आत्मिक आनन्द का सतत् आस्वादन करने को ललक उठा है। ये सांसारिक भोग विलास, राग-रङ्ग मुझे स्वप्न में भी नहीं रुचते हैं। ये ऊँचे-ऊँचे महल अटारियाँ श्मशान की राख के समान प्रतिभासित होते हैं; अत: हे नाथ! मुझे पारमेश्वरी दिगम्बर-दीक्षा देकर अनुगृहीत कीजिए।'

जिस तरह फूल की सुगन्ध, चन्द्रमा की शीतलता, बसन्त ऋतु की छटा, सज्जनों की सज्जनता, शूरवीरों का पराक्रम छिपा नहीं रहता; उसी प्रकार भव्यों की भव्यता, वैरागी की उदासीनता

छिपी नहीं रहती। पूज्य गुरुवर ने अपनी कुशल प्रज्ञा से शीघ्र मुक्ति सम्पदा के अधिकारी महाराजा बालि की पात्रता को परख लिया कि यह जाति, कुल, देश आदि से विशिष्ट होने से जिनदीक्षा के योग्य है।

इस प्रकार पात्र जानकर श्रीगुरु ने महाराजा बालि को जिनदीक्षा अङ्गीकार करायी।

बालि महाराज, मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय का त्याग तो पहले ही कर चुके थे; अब बहिरङ्ग परिग्रह के साथ-साथ वे अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान कषाय चौकड़ी एवं नव नोकषाय परिग्रह आदि शेष अन्तरङ्ग परिग्रहों का भी त्याग कर स्वरूपमग्न हो गये। इस तरह उन्होंने विधिपूर्वक जिनेश्वरी दिगम्बरी दीक्षा अङ्गीकार कर ली।

★ ★ ★

आ हा हा! किष्किंधापुरी नरेश अब परमेश बनने के लिए शीघ्रातिशीघ्र प्रयाण करने लगे। क्षण-क्षण में अन्तर्मुख होकर अतीन्द्रिय आनन्द की घूँटें पीते हुए सिद्धों से बातें करने लगे। अहो! जमे जमाये ध्रुवधाम में अब गुरुवर की परिणति मन्थर हो गयी। चैतन्यामृत भोजी गुरुवर अब सादि-अनन्त काल के लिये परिग्रहरहित हो, यथाजातरूपधारी अन्तर-बाह्य निर्विकार नग्नरूप हो गये। पञ्च महाव्रत, पञ्च समिति, पञ्च इन्द्रियविजय, षट् -आवश्यक एवं सात शेष गुण, इस प्रकार कुल अट्ठाइस मूलगुणों को निरतिचाररूप से पालन करते हुए रत्नत्रयमयी जीवन जीने लगे।

★ ★ ★

नवीन राजा सुग्रीव ने माता-पिता, रानियों एवं प्रजाजनों के साथ महाराजा बालि का दीक्षा समारोह हर्षपूर्वक मनाया तथा भावना भायी कि 'हे गुरुवर! इस दशा की मङ्गल घड़ी हमें भी शीघ्र प्राप्त हो, हम सभी भी निजानन्द बिहारी होकर आपके पदचिह्नों पर चलें।'

पूज्य श्री मुनिपुङ्गव, गुरुपद पङ्कजों की शरण ग्रहण कर जिनागम का अभ्यास करने में तत्पर हो गये। विनयसहित आगम का अभ्यास करने से अल्प काल में ही कैवल्यलक्ष्मी को वरण करते हैं, इसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। अतः पूज्य श्री बालि मुनिराज अल्प काल में ही सम्पूर्ण आगम के पाठी हो गये।

जब कभी गुरुवर आहारचर्या को निकलते तो 46 दोष और 32 अन्तराय को टालते हुए आहार ग्रहण करते। अहो! अनाहारीपद के साधक मुनिकुञ्जर क्षण-क्षण में अन्तर्मुख हो आनन्दामृत भोजी अति-शीघ्रता से अशरीरीदशामय शाश्वतपुरी के लिये अग्रसर होते जा रहे हैं।

श्री गुरुराज ने देखा कि ये बालिमुनि तो असाधारण प्रज्ञा के धनी हैं। विनय तो इनके रोम-रोम में समाई हुई है, इनमें विनय की अतिशयता है। मति, श्रुत, अवधिज्ञान के धारी हैं और वज्रवृषभनाराचसंहनन के भी धारी हैं। इनका मनोबल तो मेरु के समान अचल है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च घोर उपसर्ग करके भी इन्हें चलायमान नहीं कर सकते। आत्मभावना और द्वादश भावना को निरन्तर भाने के कारण कभी भी आर्त-रौद्रपरिणति को प्राप्त नहीं होते और बहुत काल के दीक्षित भी हैं। मेरे (श्रीगुरु) निकट रहकर निरतिचार चारित्र का सेवन भी करते हैं। क्षुधादि बाईस

परीषहों पर जयकरणशील भी हैं। दीक्षा, शिक्षा एवं प्रायश्चित्त विधि में भी कुशल हैं। धीर-वीर गुण गम्भीर हैं। अत: ऐसे सर्वगुण सम्पन्न गणधर तुल्य विवेक के धनी बालि मुनिराज को श्रीगुरु ने एकलविहारी रहने की आज्ञा दे दी।

★ ★ ★

श्रीगुरु की बारम्बार आज्ञा पाकर श्री बालिमुनिराज अनेक वन-उपवनों में विहार करते हुए अनेक जिनालयों की वन्दना करते हैं। उन्होंने अनेक जगह अनेक आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, गणधर ये पञ्च प्रधानपुरुषों के संघ को प्राप्त किया, जिससे उनके गुणों में दृढ़ता वृद्धिङ्गत हुई, ज्ञान की निर्मलता हुई, चारित्र की परिशुद्धि हुई। कभी कहीं धर्मलोभी भव्यों को धर्मोपदेश देकर उनके भवसन्ताप का हरण किया।

अहो! ध्यान-ज्ञान तो उनका जीवन ही है। निश्चल स्थिरता के लिये कभी माह, कभी दो माह का उपवास करके गिरिशिखर पर आतापन योग धारण कर लेते, तो कभी आहारचर्या हेतु नगर में पधारते हैं। कभी आहार का योग बन जाता था तो कभी नहीं भी बनता, परन्तु समतामूर्ति गुरुवर वन में जाकर पुन: ध्यानारूढ़ होकर, अतीन्द्रिय आनन्द का रसास्वादन करते हुए सिद्धों से बातें करते हैं।

इस प्रकार विहार करते-करते धर्म का डंका बजाते हुए अब गुरुवर, श्रीआदिप्रभु के सिद्धिधाम कैलाशपर्वत पर पहुँचे गये, वहाँ के सभी जिनालयों की वन्दना कर पर्वत की गुफा में जा विराजमान हुए और स्वरूपगुप्त हो गये।

★ ★ ★

राजाओं की तो स्वाभाविक प्रकृति ही ऐसी होती हे कि नव निधानों में से जहाँ जो निधान दिखा कि बस यह तो मुझे ही मिलना चाहिए क्योंकि मैं राजा हूँ और निधानों के स्वामी तो राजा ही होते हैं।

एक बार दशानन सज-धज के रत्नावली नाम की कन्या के विवाह के लिये विमान में अपनी पटरानी मन्दोदरी आदि रानियों के साथ बैठा हुआ आकाशमार्ग से जा रहा था। जब उसका विमान कैलाशपर्वत पर, जहाँ श्री बालि मुनिराज तपस्या कर रहे थे, वहाँ पहुँचा और अचानक रुक गया। जब बहुत उपाय करने पर भी विमान आगे नहीं बढ़ा, तब लंकेश विचारने लगा कि इसका क्या कारण है ? चारों ओर देखने पर भी कुछ कारण नजर नहीं आया। आता भी कैसे ? क्योंकि विवाह के राग में मतवाला हो जाने से उसे यह विवेक ही नहीं रहा कि जहाँ जिनालय होते हैं, जिनगुरु विराजते हैं, उनके ऊपर से विमान तो क्या, जगत् का कोई भी वाहन गमन नहीं करता है।

उसने ज्यों ही नीचे की ओर दृष्टि डाली तो उसे कुछ जिनालय एवं ध्यानस्थ मुनिराज दिखाई दिये। उसने अपना विमान नीचे उतारा, किन्तु ज्यों ही उसकी नजर बालि मुनिराज पर पड़ी, बस फिर क्या था। उसके हृदय में क्रोध भड़क उठा, उसने सोचा - निश्चित ही इस बालि ने क्रोध से मेरा विमान रोक दिया है क्योंकि पूर्व बैरयुक्त बुद्धि में ऐसा ही सूझता है। स्व-पर विनाशक, दुर्गति का हेतु क्रोधासुर महापाप करने के लिए रावण को उत्तेजित करने लगा कि अब बालि मुनि हो गया है, बदले में यह कुछ कर

तो सकता नहीं; अत: बदला लेने का यह अच्छा अवसर है।

अरे रे! जिसे आगामी पर्याय नरक की ही बितानी है – ऐसे उस दुर्मति सम्पन्न दशानन ने आदिप्रभु के सिद्धिधाम कैलाशपर्वत –सहित बालि मुनिराज को समुद्र में पटक देने का विचार किया और अपनी शक्ति एवं विद्या के बल से पर्वत को उखाड़ने लगा। उसका दुष्कृत देख महाविवेकी, धर्ममूर्ति बालि मुनिराज को यह विचार आया कि अरे! इस रावण के दुष्कृत्य से इस पर्वत पर विराजमान तीन चौबीसी के अनुपम भव्य जिनालय और अनेक गुणों के निधान मुनिराज जो अनेक स्थानों में आत्ममग्न विराजमान हैं, ये सभी नष्ट हो जाएँगे तथा इस पर्वत के निवासी लाखों जीव प्राणहीन हो जाएँगे; अनेक निर्दोष, मूक पशु इसके क्रोध के ग्रास बन जावेंगे। दशानन की सर्व विनाशकारी करतूत को रोकने के लिए श्री बालि मुनिराज ने अपनी कायबलऋद्धि का प्रयोग किया।

यद्यपि मुनिराजों को तो अपनी स्वरूपाराधना से फुर्सत ही नहीं है, तथापि धर्म पर आये सङ्कट को दूर करने के लिए उन्हें भी अपनी ऋद्धियों का प्रयोग करना पड़ता है।

श्री बालिमुनि को कायबलऋद्धि थी; अत: उन्होंने जिनालयों आदि की रक्षा के भाव से अपने बाँये पैर का अँगूठा नीचे की ओर दबाया। मुनि, वज्रवृषभनाराचसंहनन के धनी तो थे ही, एक अँगूठे को जरा सा नीचे की ओर करते ही उसका बल दशानन को असह्य हो गया। उसके भार से दबकर वह निकलने में असमर्थ हो जाने से जोर-जोर से चिल्लाने लगा – 'मुझे

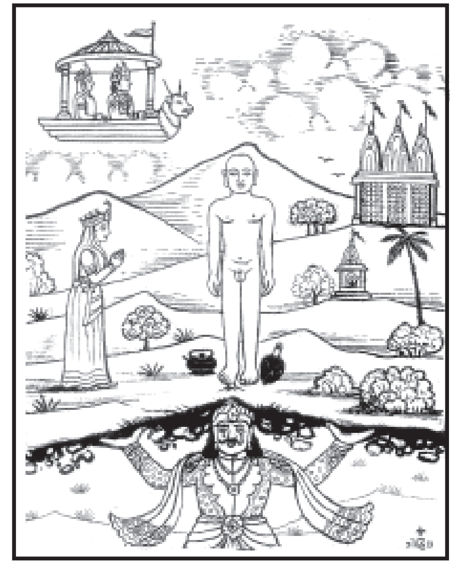

बचाओ, मुझे बचाओ;' तब उसकी करुण पुकार सुनकर विमान में बैठी हुई मन्दोदरी आदि रानियाँ तत्काल पूज्य बालि मुनिराज के पास दौड़ी आईं और हाथ जोड़कर नमस्कार करती हुईं अपने पति के प्राणों की भिक्षा माँगने लगीं – 'हे प्रभु! आप तो क्षमावन्त दयामूर्ति हैं, हमारे पति का अपराध क्षमा कीजिये प्रभु! क्षमा कीजिये।'

परम दयालु मुनिराज ने अपना अँगूठा ढीला कर दिया, तब दशानन निकलकर बाहर आया। जब मुनिराज के तप के प्रभाव से देवों के आसन कम्पायमान होने लगे, तब देवों ने अवधिज्ञान से आसन कम्पित होने का कारण जाना। अहो मुनिराज! धन्य मुनिराज आपका तप!! इस प्रकार कहते हुए सभी ने अपने आसनों से उतरकर मुनिराज को परोक्ष नमस्कार किया और तत्काल सभी ने कैलाशपर्वत पर आकर पञ्चाश्चर्य करके श्रीगुरु को नमस्कार किया। पश्चात् दशानन का 'रोतिति रावण:' अर्थात् रोया इसलिए रावण नाम रखकर देव अपने-अपने स्थानों को चले गये।

★ ★ ★

श्री बालि मुनिराज की तपश्चर्या का प्रभाव देखकर रावण भी आश्चर्य में पड़ गया। वह मन ही मन बहुत पछताया,

अरे बारम्बार अपराध करनेवाला मैं कितना अधर्मी हूँ और ये बालिदेव सदा निरपराधी होने पर भी मैं इन्हें कष्ट देता ही आ रहा हूँ। धन्य हे इनकी क्षमा! इस प्रकार विचार करके रावण श्री मुनिराज को नमस्कार करता हुआ अपने अपराधों की क्षमा -याचना करने लगा।

श्रीगुरु ने रावण को भी 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर, वह भी दु:खों से मुक्त हो - ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया। अहो! वीतरागी सन्तों का जगत में कोई शत्रु-मित्र नहीं है।

अरि-मित्र महल-मशान, कंचन-काच निन्दन-थुति करन।
अर्घावतारण असिप्रहारण, में सदा समता धरन॥

श्रीगुरु से धर्मलाभ का आशीर्वाद प्राप्त कर रावण अपने विमान में बैठकर अपने इच्छित स्थान को चला गया।

अनेक वन-उपवनों में विहार करते हुए भावी सिद्ध भगवान, अनन्त सिद्धों के सिद्धिधाम कैलाशपर्वत पर तो कुछ समयों से विराजमान थे ही, वह पावन भूमि पुन: गुरुवर के चरण स्पर्श से पावन हो गयी। दो तीर्थों का मिलन - एक भावतीर्थ और दूसरा स्थापनातीर्थ; एक चेतनतीर्थ और दूसरा अचेतनतीर्थ। हमें ऐसा लगता होगा कि क्या भावी भगवान तीर्थयात्रा करने आये होंगे? अरे, गुरुवर तो स्वयं रत्नत्रयरूप परिणमित जीवन्ततीर्थ हैं।

पूज्य गुरुवर ध्यानस्थ हैं... अहा, ऐसे वीतरागी महात्मा मेरे शीष पर पधारे।.... इस प्रकार हर्षित होता हुआ मानो वह पर्वत अपने को गौरवशाली मानने लगा। शृङ्गराज अभी तक यही समझता

था कि इस लोक में मैं ही एक अचल हूँ परन्तु अपने से अनन्तगुणे अचल महात्मा को देखकर वह भी आश्चर्यचकित रह गया, मानो वह सोच रहा हो कि दशानन की शक्ति एवं विद्या ने मुझे तो हिला दिया किन्तु ये गुरुवर कितने अकम्प हैं कि जिनके बल से मैं भी अकम्प रह सका। वृक्ष समूह सोचता है कि क्या ग्रीष्म का ताप गुरुवर पर अपना प्रभाव नहीं डालता होगा? इतनी गर्मी में भी ये गुरुवर हमारी शीतल पवन की भी अपेक्षा नहीं करते।

कितने दिनों से ये सन्त यहाँ विराजमान हैं, न किसी से कुछ बोलते, न चलते, न खाते, न पीते, न हिलते, बस ध्यानमग्न ही अकृत्रिमबिम्बवत् स्थित हैं। बालि राजा का महाबलवानपना आज सचमुच जाग उठा है, क्षायिकसम्यक्त्व उनकी सेना का सेनापति है और अनन्त गुणों की विशुद्धिरूप सेना शुक्लध्यान द्वारा श्रेणीरूप बाणों की वर्षा कर रही है, अनन्त आत्मवीर्य उल्लसित हो रहा है, केवलज्ञान लक्ष्मी विजयमाला लेकर तैयार खड़ी है, इसी से मोह की समस्त सेना प्रतिक्षण घटती जा रही है। अरे, देखो.... देखो! प्रभु तो शुद्धोपयोगरूपी चक्र की तीक्ष्ण धार से मोह को अस्ताचल की राह दिखाने लगे। क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो अप्रतिहतभाव से आगे बढ़ते-बढ़ते आठवें... नौवें.... दसवें गुणस्थान में तो लीलामात्र में पहुँच गये। अहो! अब शुद्धोपयोग की उत्कृष्ट छलाँग लगी और मुनिराज पूर्ण वीतरागी हो गये, प्रभु हो गये।

अहा! वीतरागता के अति प्रबलवेग को सहन करने में असमर्थ ज्ञानावरण, दर्शनावरण एवं अन्तराय तो क्षणमात्र में भाग गये।

अरे, वे तो सत्त्वविहीन ही हो गये। अब अनन्त कलाओं से केवलज्ञान सूर्य चमक उठा... अहा! अब नृपेश, परमेश बन गये; सन्त, भगवन्त हो गये; अल्पज्ञ, सर्वज्ञ हो गये; अब वे बालि मुनिराज अरहन्त बन गये... 'णमो अरहंताणं।'

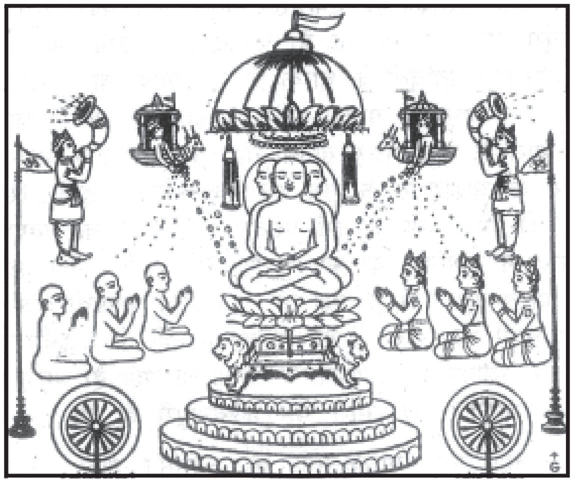

इन्द्रराज की आज्ञा से तत्काल ही कुबेर ने गन्धकुटी की रचना की, जिस पर प्रभु अन्तरीक्ष विराजमान हैं, शत इन्द्रों ने प्रभु को नमन कर केवलज्ञान की पूजा की। अभी तो इन्द्रगण केवलज्ञानोत्सव मना ही रहे थे कि प्रभु तृतीय शुक्लध्यान से योग निरोध कर अयोगी गुणस्थान में पहुँच गये। चतुर्थ शुक्लध्यान से चार अघाति कर्मों का नाश कर पाँच स्वरों के उच्चारण जितने काल के बाद प्रभु अब शरीररहित हो ऊर्ध्वगमनस्वभाव से लोकाग्र में पहुँच गये। 'णमो सिद्धाणं।'

बिन कर्म, परम, विशुद्ध; जन्म जरा, मरण से हीन हैं।
ज्ञानादि चार स्वभावमय; अक्षय, अछेद अछीन हैं॥
निर्बाध, अनुपम अरु अतीन्द्रिय; पुण्य-पाप विहीन हैं।
निश्चल, निरालम्बन, अमर, पुनरागमन से हीन हैं॥

★ ★ ★

एक बार श्री सकलभूषण केवली से विभीषण ने विनयपूर्वक पूछा – 'हे भगवन्! इस प्रकार के महाप्रभावशाली यह बालिदेव किस पुण्य के फल से उत्पन्न हुए हैं? जगत को आश्चर्यचकित कर देनेवाले प्रभाव का कुछ कारण तो अवश्य होगा। प्रभु! कृपया हमें इसका समाधान दो।'

उत्तर यह मिला कि इसी आर्यखण्ड में एक वृन्दारक नाम का वन है। उसमें एक मुनिवर आगम का पाठ किया करते थे और उसी वन में रहनेवाला एक हिरण प्रतिदिन उसे सुना करता था। वह हिरण, शुभपरिणामों से आयु पूर्ण कर, उस पुण्य के फल से ऐरावत क्षेत्र के स्वच्छपुर नगर में विरहित नामक वणिक की शीलवती स्त्री के मेघरत्न नाम का पुत्र हुआ। वहाँ पर पुण्य प्रताप से सभी प्रकार के सांसारिक सुख भोगकर अणुव्रत धारण किये, उसके फलस्वरूप उदयजन्य वैभव में वे लुभाये नहीं, वहाँ पर भी अपनी पूर्व की आराधना अखण्डरूप से आराधते हुए दैवीय सुख भोगकर देवायु पूर्ण करके, पूर्वविदेह के कोकिलाग्राम में कान्तशोक वणिक की रत्नाकिनी नामक स्त्री के सुप्रभ नाम का पुत्र हुआ।

एक दिन उसे श्रीगुरु का संघ प्राप्त हुआ, फिर क्या था; भावना तो भा ही रहे थे कि 'घर को छोड़ वन जाऊँ, मैं भी वह दिन कब पाऊँ।' गुरुराज से धर्म श्रवण कर तत्काल संसार, देह, भोगों से विरक्ति जाग उठी। फलस्वरूप उन्होंने पारमेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार कर ली और बहुत काल तक उग्र तपस्या करके सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग में गये और वहाँ से च्युत होकर यहाँ पर चमत्कारी महाप्रभावशाली बालिदेव हुए।

तात्पर्य यह है कि उस होनहार हिरण ने श्रीगुरु के मुखारविन्द से मात्र शब्द ही सुने थे, ऐसा नहीं; भावों को भी उसने समझ लिया था। उसे अन्तरङ्ग से जिनगुरु एवं जिनवाणी के प्रति बहुमान था, भक्ति थी, उन संस्कारों का फल यह हुआ कि दूसरे ही भव में वह मनुष्य हुआ और अणुव्रत धारण कर मोक्षमार्गी बन गया। इतना ही नहीं उसने अपनी आराधना अविरलरूप से चालू रखी, उसी के फलस्वरूप पाँचवें भव में वह बालिदेव हुआ और इसी भव से साधनापूर्ण करके सिद्धत्व को प्राप्त किया। कहा भी है –

धन्य-धन्य है घड़ी आज की, जिनधुनि श्रवन परी।
तत्त्व प्रतीति भई अब मोंकों, मिथ्या दृष्टि टरी॥

● *- ब्रह्मचारिणी विमलाबेन*

सम्यक्त्वी धर्मात्मा की मुनिभक्ति

सम्यक्त्वी धर्मात्मा को रत्नत्रय के साधक सन्त-मुनिवरों के प्रति ऐसा भक्ति भाव होता है कि उन्हें देखते ही उनका रोम-रोम भक्ति से उल्लसित हो जाता है....अहो! इन मोक्ष के साक्षात साधक सन्त भगवान के लिए में क्या-क्या करूँ! किस-किस प्रकार इनकी सेवा करूँ!! किस प्रकार इन्हें अर्पित हो जाऊँ!! – इस प्रकार धर्मी का हृदय भक्ति से उछलने लगता है और जब ऐसे साधक मुनि उनके आँगन में आहार के लिए पधारें तथा आहारदान का प्रसङ्ग आये, तब तो मानों साक्षात् भगवान ही आँगन में पधारे हों.... साक्षात् मोक्षमार्ग ही आँगन में आया हो... इतनी अपार भक्ति से मुनि को आहारदान देते हैं। *(आत्मधर्म, वर्ष सोलहवाँ, वीर निर्वाण सम्वत् 2486)*

5

पशु से परमेश्वर

एक था हाथी....बहुत ही बड़ा हाथी! बहुत ही सुन्दर हाथी! यह बात रामचन्द्रजी के समय की है।

एक बार राजा रावण लंका की ओर जा रहे थे, तभी बीच में श्री सम्मेदशिखर क्षेत्र को देखकर रावण को अत्यन्त हर्ष हुआ और उसने समीप में ही पड़ाव डाल दिया।

उसी समय एकाएक मेघ-गर्जना की आवाज सुनाई देने लगी, लोग भय से यहाँ-वहाँ भागने लगे। लश्कर के हाथी, घोड़े आदि भी डर से चीत्कार करने लगे। रावण ने इस कोलाहल को सुनकर देखा कि एक बहुत बड़ा और अत्यन्त बलवान हाथी झूमता-झूमता आ रहा है, उसकी ही यह गर्जना है और उससे ही डरकर लोग भाग रहे हैं। वह हाथी बहुत ही सुन्दर था। उस मदमस्त हाथी को देखकर रावण अत्यन्त हर्षित हुआ और उसे उस हाथी की सवारी करने का मन होने लगा। वह हाथी को पकड़ने के लिए आया और हाथी के सामने गया। रावण को देखते ही हाथी उसके सामने ही दौड़ने लगा। सभी लोग आश्चर्य से देखने लगे कि अब क्या होगा?

राजा रावण बहुत ही बहादुर था, 'गजकेली' में अकेले ही हाथी के साथ खेलने की कला में होशियार था। पहले उसने अपने कपड़ों का गट्ठा बनाकर हाथों के सामने फेंका, हाथी उस कपड़ें को सूँघने के लिए रुक गया, उसी समय छलाङ्ग मारकर उसी हाथी के मस्तक पर चढ़ गया और उसके कुम्भस्थल पर मुट्ठी से प्रहार करने लगा।

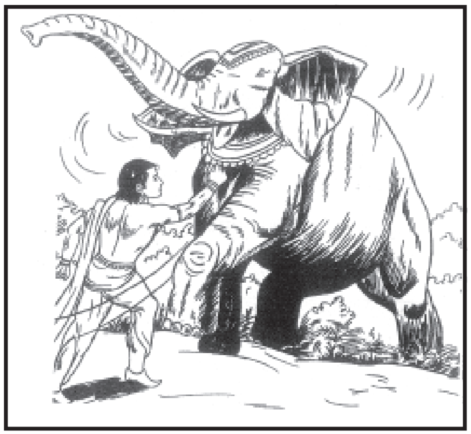

हाथी घबरा गया, उसने सूँड ऊपर करके रावण को पकड़ने की बहुत चेष्टा की किन्तु रावण उसके दोनों दन्तशूल के बीच से सरक कर नीचे उतर गया। इस प्रकार रावण ने कई बार हाथी के साथ खेलकर हाथी को थका दिया और फिर रावण, हाथी की पीठ पर चढ़ गया । जैसे हाथी भी राजा रावण को समझ गया हो - इस तरह शान्त होकर विनयवान सेवक की भाँति खड़ा हो गया। रावण उस पर बैठकर पड़ाव की ओर आया। वहाँ चारों ओर जय-जयकार होने लगी।

रावण को यह हाथी अच्छा लगा, इसलिए उसे वह लंका ले गया। लंका जाकर उस हाथी की प्राप्ति की प्रसन्नता में उत्सव मनाकर उसका नाम त्रिलोकमण्डल रखा। रावण के लाखों हाथियों में से वह प्रमुख हाथी था।

★ ★ ★

एक बार रावण, सीता का हरण करके ले गया। तब राम -लक्ष्मण ने लड़ाई करके रावण को हराया और सीता को लेकर अयोध्या आये। उसी समय लंका से उस त्रिलोकमण्डल हाथी को साथ ले आये। राम-लक्ष्मण के 42 लाख हाथियों में वह सबसे बड़ा था और उसका बहुत मान था।

राम के भाई भरत अत्यन्त वैरागी थे। जैसे, शिकारी को देखकर हिरण भयभीत होता है; उसी प्रकार भरत का चित्त संसार के विषय भोगों से अत्यन्त भयभीत था और वे संसार से विरक्त होकर मुनि होने के लिए उत्सुक थे।

जिस प्रकार पिञ्जरे में कैद सिंह खेदखिन्न रहता है और वन में जाने की इच्छा करता है; उसी प्रकार वैरागी भरत, गृहवासरूपी पिञ्जरे से छूटकर वनवासी मुनि बनना चाहते थे लेकिन राम-लक्ष्मण ने आग्रह करके उन्हें रोक लिया। उन्होंने उदास मन से कुछ समय तो घर में बिताया लेकिन अब तो वे रत्नत्रयरूपी जहाज में बैठकर संसार-समुद्र से पार होने के लिए तैयार हो गये।

एक बार भरत, सरोवर के किनारे गये, उसी समय गजशाला में बँधा त्रिलोकमण्डल हाथी, मनुष्यों की भीड़ देखकर एकाएक गर्जना करने लगा और साँकल तोड़कर भयङ्कर आवाज करते हुए भागने लगा। हाथी की गर्जना सुनकर अयोध्या-वासी भयभीत हो गये, हाथी तो दौड़ने लगा और राम-लक्ष्मण उसे पकड़ने के लिए उसके पीछे दौड़ने लगे। दौड़ते-दौड़ते वह हाथी सरोवर के किनारे जहाँ भरत थे, वहाँ

आया। लोग चिन्तित हो गये – हाय! हाय!! अब क्या होगा? रानियाँ और प्रजाजन रक्षा के लिए भरत के पास आये। उनकी माँ कैकयी भी भय से हाहाकार करने लगी।

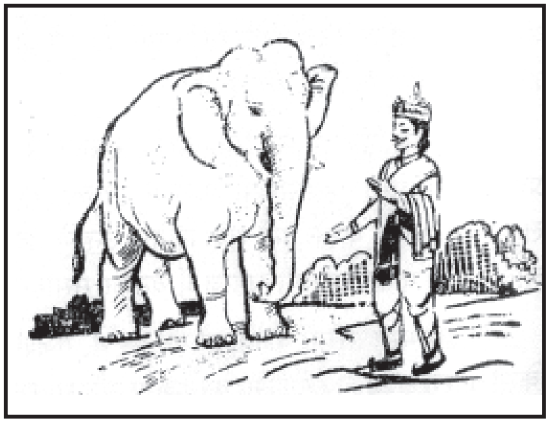

हाथी दौड़ते-दौड़ते भरत के पास आकर खड़ा हो गया, भरत ने हाथी को देखा और हाथी ने भरत को देखा। बस, भरत को देखते ही हाथी एकदम शान्त हो गया और उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया, उसने जाना कि 'अरे, हम दोनों मुनि हुए थे और फिर छठवें स्वर्ग में दोनों साथ थे।

अरे रे! पूर्वभव में मैं और भरत साथ ही थे परन्तु मैंने भूल की, उसके फलस्वरूप मैं देव से पशु हुआ हूँ। अरे! इस पशुपर्याय पर धिक्कार है।'

भरत को देखते ही हाथी एकदम शान्त होकर उसी प्रकार खड़ा हो गया, जैसे गुरु के समीप शिष्य विनय से खड़ा रहता है। भरत ने प्रेम से उसके सिर पर हाथ रखकर मधुर स्वर में कहा –'गजराज! तुम्हें क्या हुआ? तुम शान्त हो जाओ!! यह क्रोध तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम चैतन्य की शान्ति को देखो।'

भरत के मधुर वचन सुनते ही हाथी को बहुत शान्ति मिली, उसकी आँखों से आँसू गिरने लगे, वह वैराग्य से विचार करने लगा कि –

'अरे, अब पश्चाताप करने से क्या लाभ? अब मेरा आत्मकल्याण हो और मैं इस भवदु:ख से मुक्त होऊँ – ऐसा उपाय करूँगा।'

इस प्रकार परम वैराग्य का चिन्तन करते हुए हाथी एकदम शान्त होकर भरत के सामने एकटक देखते खड़ा रहा। मानों कह रहा हो –

'हे बन्धु! तुम पूर्व भव के मेरे मित्र हो, पूर्व भव में स्वर्ग में हम दोनों साथ थे, अब मेरा आत्मकल्याण कराकर इस पशुगति से मेरा उद्धार करो।'

वाह रे वाह! धन्य हाथी! उसने हाथी होकर भी आत्मा के कल्याण का महान कार्य किया। पशुपर्याय में होने पर भी परमात्मा को समझने की लिए अपना जीवन सार्थक किया।

हाथी को एकाएक शान्त हुआ देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ– 'अरे यह क्या हुआ! भरत ने हाथी पर कैसा जादू कर दिया है? वह एकाएक शान्त कैसे हो गया है?'

भरत, उस हाथी पर बैठकर नगरी में आया और हाथी को गजशाला में रखा। महावत ने भरत के निर्देशानुसार उसकी बहुत सेवा की, उसे मोहित करने के लिए सङ्गीत, उसको प्रसन्न करने का हर सम्भव उपाय किया गया।

किन्तु.... आश्चर्य की बात तो यह है कि वह हाथी अब

न कुछ खाता है, न सङ्गीत आदि पर ही ध्यान देता है, सोता भी नहीं, क्रोध भी नहीं करता, बस एकदम उदास ही रहता है। अपने आप में आँख बन्द करके शान्त होकर बैठा रहता है और आत्महित की बात का ही विचार करता है क्योंकि जातिस्मरण को प्राप्त करके उसका मन संसार और शरीर से अत्यन्त विरक्त हो गया......।

इसी प्रकार खाये-पीये बिना ही एक दिन हो गया, दो दिन हो गये, चार दिन हो गये....तब महावत ने श्रीराम के पास आकर कहा -

'हे देव! यह हाथी चार दिन से न कुछ खाता-पीता है, न सोता है और न ही क्रोध करता है; शान्त होकर बैठा रहता है और पूरे दिन न जाने किसका ध्यान करता है। उसे रिझाने के लिए हमने बहुत प्रयत्न किये तथापि उसके मन में न जाने क्या है? पता नहीं चलता। बड़े-बड़े गजवैद्यों को दिखाया, वे भी हाथी के रोग को नहीं जान सके। यह हाथी अपनी सेना की शोभा है, महाबलवान है; इसे एकाएक क्या हो गया? वह हमारी समझ में नहीं आता; इसलिए आप ही कोई उपाय कीजिए।'

इसी समय अचानक एक सुन्दर प्रसङ्ग बना। अयोध्यानगरी में दो केवली भगवन्त पधारे....उनके नाम थे - देशभूषण और कुलभूषण। श्रीराम और लक्ष्मण ने वन गमन के समय वंशधर पर्वत पर इन दो मुनिवरों के उपसर्ग को दूर करके बहुत भक्ति की थी और उसी समय उन दोनों मुनिवरों को केवलज्ञान प्राप्त

हुआ था। वे जगत के जीवों का कल्याण करते-करते अयोध्या नगरी में पधारे।

भगवान के पधारने से सम्पूर्ण नगरी में आनन्द ही आनन्द छा गया। सब उनके दर्शन करने के लिए चले.....राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न भी उस त्रिलोकमण्डल हाथी पर बैठकर उन भगवन्तों के दर्शन करने के लिए आये.....और धर्मोपदेश सुनने के लिए बैठे। भगवान ने सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग का अद्भुत उपदेश दिया, उसे सुनकर सभी बहुत आनन्दित हुए।

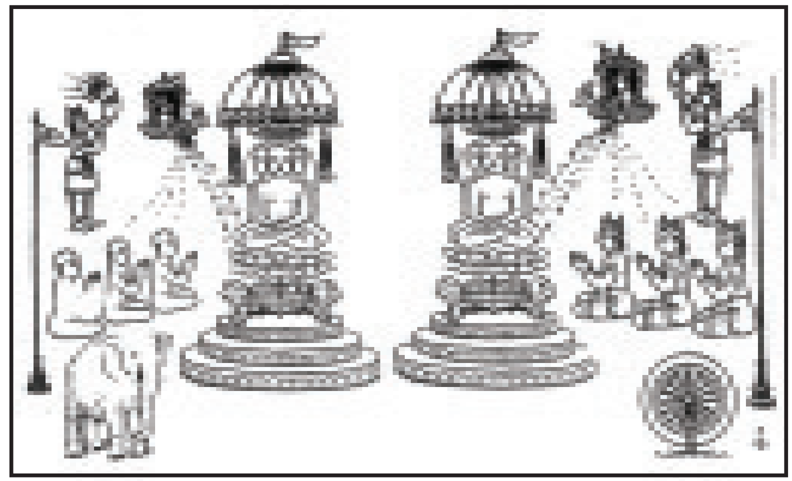

त्रिलोकमण्डन हाथी भी उन केवली भगवन्तों के दर्शन से बहुत ही प्रसन्न हुआ और धर्मोपदेश सुनकर उसका चित्त संसार से उदास हो गया, उसने अपूर्व आत्मशान्ति प्राप्त की और भगवन्तों को नमस्कार करके श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये।

धन्य है गजराज तुमको! तुमने आत्मा को समझकर जीवन सफल बनाया! तुम पशु नहीं देव हो, धर्मात्मा हो, देवों से भी महान हो।

अहो, देखो! जैनधर्म की प्रताप!! एक हाथी जैसा पशु का जीव भी जैनशासन प्राप्त करके आत्मकल्याण कर लेता है। हमें भी हाथी की तरह आत्मा को समझकर, उत्तम वैराग्यमय जीवन जीना चाहिए।

★★★

भगवान के उपदेश सुनकर महाराज लक्ष्मण ने पूछा -

'हे भगवन्! यह त्रिलोकमण्डन हाथी पहले गजबन्धन तोड़कर क्यों भागा? और फिर भरत को देखकर एकाएक शान्त क्यों हो गया?'

उत्तरस्वरूप भगवान की वाणी में आया कि भरत का जीव और हाथी का जीव दोनों पूर्व भव के मित्र हैं।

उनके पूर्व भव का वृतान्त इस प्रकार है - 'भरत और त्रिलोकमण्डन हाथी दोनों जीव बहुत भवों पूर्व भगवान ऋषभदेव के समय में चन्द और सूर्य नाम के दो भाई थे। मारीचि के मिथ्या उपदेश से कुधर्म की सेवा करके दोनों ने बन्दर, मोर, तोता, सर्प, हाथी, मेंढ़क, बिल्ली, मुर्गा आदि अनेक भव धारण किये और दोनों ने एक दूसरे को बहुत बार मारा, कई बार भाई हुए, फिर पिता-पुत्र हुए; इस प्रकार भवभ्रमण करने-करते कितने ही भव बाद भरत का जीव तो जैनधर्म को प्राप्त करके मुनि होकर छठवें स्वर्ग में गया और यह हाथी का जीव भी पूर्व भव में वैराग्य प्राप्त करके मृदुयति नाम का मुनि हुआ।

एक बार एक नगर में दूसरे एक महाऋद्धिधारी मुनिराज, जो कि गुणवान और तपस्वी थे, उन्होंने चातुर्मास में चार माह

के उपवास किये और फिर चातुर्मास पूरा होने पर अन्यत्र विहार कर गये। तभी हाथी का जीव अर्थात् वे ही मृदुयति मुनि उस नगर में आये और भ्रमवश लोगों ने उन्हें ही महा-तपस्वी समझकर सम्मान करने लगे। उन्हें ख्याल आया कि लोग भ्रम से मुझे ऋद्धिधारी तपस्वी समझ कर मेरा आदर कर रहे हैं किन्तु ऐसा जानते हुए भी मान के वश होकर उन्होंने लोगों को सच्ची बात नहीं बताई, कि पहलेवाले मुनिराज तो दूसरे थे और मैं दूसरा हूँ।

इस प्रकार शल्यपूर्वक मायाचार करने का परिणाम उनके तिर्यञ्चगति के बन्ध का कारण बना किन्तु मुनिपने के प्रभाव से वह जीव वहाँ से मरकर प्रथम तो छठवें स्वर्ग में गया, भरत का जीव भी वहाँ था, वे दोनों देव मित्र थे। उनमें से एक तो इस अयोध्या का राजपुत्र भरत हुआ और दूसरा जीव मायाचारी के कारण यह हाथी हुआ है। उसके मनोहर रूप को देखकर लंका के राजा रावण ने उसे पकड़ लिया और उसका नाम त्रिलोकमण्डन रखा। रावण को जीतकर राम-लक्ष्मण उस हाथी को यहाँ ले आये। लोगों की भीड़ देखकर घबराहट से वह बन्धन को तोड़कर भागा था किन्तु पूर्व भव के मित्रों का मिलन होने से पूर्व भव के संस्कार जागृत होने से भरत को देखते ही हाथी पुनः शान्त हो गया।

इस हाथी को जातिस्मरण ज्ञान हुआ है और अपने पूर्व भव की बात सुनकर संसार से एकदम उदास हो गया है और अब उसने अपना मन आत्मा की साधना में लगाया है, श्रावक

के व्रत अङ्गीकार किये हैं... यह भी निकटभव्य है।'

देशभूषण केवली की सभा में अपने पूर्व भव की बात सुनकर वैरागी भरत ने वहीं जिनदीक्षा धारण कर ली और फिर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया। उनका मित्र त्रिलोकमण्डन हाथी भी संसार से विरक्त हुआ, उसने भी आत्मानुभव प्रगट करके श्रावक के व्रत अङ्गीकार किये। वाह! हाथी का जीव श्रावक बना... पशु होने पर भी देवों से भी महान बना और अब अल्प काल में मोक्ष प्राप्त करेगा।

श्री देशभूषण केवली प्रभु की वाणी में हाथी की सरस बात सुनकर राम-लक्ष्मण आदि सभी आनन्दित हुए। हे भव्य पाठकों! तुम्हें भी आनन्द आया होगा और हाँ! तुम भी हाथी के समान अपनी आत्मा को जिनधर्म में लगाओगे और मान -माया आदि सभी प्रकार के विकारीभावों को छोड़ोगे, तो तुम्हारा भी कल्याण होगा।

हाथी और भरत के पूर्व भव की बात सुनकर राम-लक्ष्मण आदि सभी को आश्चर्य हुआ। भरत के साथ एक हजार राजा भी जिनदीक्षा लेकर मुनि हुए। भरत की माता कैकेयी भी जिनधर्म की परम भक्त बनकर, वैराग्य प्राप्त कर आर्यिका हुई। उनके साथ 300 स्त्रियों ने भी पृथ्वीमति आर्यिकाजी के पास आर्यिकादीक्षा ग्रहण की।

त्रिलोकमण्डन हाथी का हृदय तो केवली भगवान के दर्शन से फूला नहीं समा रहा था, पूर्व भव को सुनकर और आत्मज्ञान प्राप्त करके वह एकदम शान्त हो गया! सम्यग्दर्शनसहित वह

हाथी वैराग्यपूर्वक रहता और श्रावक के व्रतों का पालन करता... पन्द्रह-पन्द्रह दिन या महीने-महीने भर के उपवास करता... अयोध्या के नगरजन अत्यन्त वात्सल्यपूर्वक शुद्ध आहार-पानी के द्वारा उसे भोजन कराते...। ऐसे धर्मात्मा हाथी को देखकर सब उसके प्रति बहुत प्रेम करते...। तप करने से धीरे-धीरे उसका शरीर दुर्बल होने लगा और अन्त में धर्मध्यानपूर्वक, देह त्यागकर वह छठवें स्वर्ग में गया... और वहाँ से आकर अल्प काल में मोक्ष प्राप्त किया। ●

- ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

स्वरूपगुप्त होते हैं मुनिराज

भाई! मुनि कैसे होते हैं, उसका सच्चा ज्ञान तो होना चाहिए। पहली बात तो यह है कि माँस, मदिरा, मधु आदि कि जिनमें त्रसजीवों की उत्पत्ति होती है, वह आहार जैनों को नहीं होता; जिस अनाज और फलों में त्रसजीव हों, वह वे नहीं खाते। तथा त्रसजीवयुक्त आहार नहीं लेते, इसलिए धर्म हो जाता है - ऐसा भी नहीं है। त्रसजीवयुक्त आहार का भाव, मिथ्यात्वसहित तीव्रराग है - यह तो प्रथम भूमिका के व्यवहार की बात आयी, परन्तु त्रस का आहार छोड़ने से धर्म हो गया-ऐसा कदापि नहीं है। यहाँ तो आचार्यदेव यहाँ तक कहते हैं कि त्रस का आहार तो नहीं, परन्तु निर्दोष आहार लेने या टीका रचने का विकल्प, वह भी 'मैं' नहीं हूँ। मैं तो स्वरूपगुप्त-ज्ञानानन्द स्वरूप निर्विकल्प वस्तु में गुप्त हूँ।

(वचनामृत-प्रवचन, पृष्ठ 270-271)

6

मित्र हो तो ऐसा

इस भरतक्षेत्र में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान ऋषभदेव हुए, उनके पुत्र, प्रथम चक्रवर्ती भरत हुए। बाद में दूसरे तीर्थङ्कर अजितनाथ हुए, उनके शासनकाल में सगर नाम के दूसरे चक्रवर्ती हुए।

सगर चक्रवर्ती पूर्व भव में विदेहक्षेत्र में जयसेन नाम के राजा थे, उन्हें अपने दो पुत्रों से बहुत स्नेह था, उनमें से एक पुत्र के मरण होने पर वे मूर्च्छित हो गये, पश्चात् शरीर को दुःख का ही धाम समझ कर जन्म-मरण से छूटने के लिए दीक्षा लेकर मुनि हुए। उस समय उनके साले महारूप ने भी उनके साथ दीक्षा ले ली, दूसरे हजारों राजा भी दीक्षा लेकर मुनि हुए और सम्यग्दर्शन -ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध मोक्षमार्ग को साधने लगे।

जयसेन और महारूप - ये दोनों मुनिराज समाधिमरणपूर्वक देह छोड़कर सोलहवें अच्युत स्वर्ग में देव हुए। वे दोनों एक -दूसरे के मित्र थे और ज्ञान-वैराग्य की चर्चा करते थे। एक बार उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि हम में से जो भी पहले पृथ्वी पर अवतार लेकर मनुष्य होगा, उसे दूसरा देव प्रतिबोध देगा अर्थात् उसे संसार के स्वरूप को समझाकर वैराग्य उत्पन्न कराकर और

दीक्षा लेने की प्रेरणा करेगा। इस प्रकार धर्म में मदद करने के लिए दोनों मित्रों ने एक-दूसरे के साथ प्रतिज्ञा की। सच ही है 'सच्चा मित्र वही है, जो धर्म में मदद करे।'

अब, उनमें से प्रथम जयसेन राजा के जीव ने बाईस सागरोपम तक देवलोक के सुख भोगकर आयु पूर्ण होने पर मनुष्यलोक में अवतार लिया। भरतक्षेत्र में ही जहाँ पहले दो तीर्थङ्कर और भरत चक्रवर्ती ने अवतार लिया था, उसी अयोध्यानगरी में उन्होंने अवतार लिया। उनका नाम था सगरकुमार। वे दूसरे चक्रवर्ती हुए और छह खण्ड पर राज्य करने लगे। उन चक्रवर्ती के अत्यन्त पुण्यवान साठ हजार पुत्र थे, वे सभी उत्तम धर्मसंस्कारी थे।

एक बार किसी मुनिराज को केवलज्ञान हुआ और बहुत उत्सव मनाया गया, कितने ही देव उत्सव में आये। उनमें मणिकेतु नाम का देव, जो सगर चक्रवर्ती का मित्र था, वह भी आया। केवली भगवान की वाणी सुनकर उसे यह जानने की इच्छा हुई कि मेरा मित्र कहाँ है ? इच्छा होते ही उसने अपने अवधिज्ञान से जान लिया कि वह जीव पुण्योदय से अयोध्यानगरी में सगर नाम का चक्रवर्ती हुआ है।

अब उस देव को पूर्व की प्रतिज्ञा याद आयी और अपने मित्र को प्रतिबोध देने के लिए वह अयोध्या आया। वहाँ आकर सगर चक्रवर्ती से कहा -

'हे मित्र! तुझे याद है ? हम दोनों स्वर्ग में एक साथ थे और हम दोनों ने यह निश्चित किया था कि अपने में से जो पृथ्वी पर पहले अवतार लेगा, उसे स्वर्ग में रहनेवाला दूसरा साथी प्रतिबोध

देगा। हे भव्य! तुमने इस पृथ्वी पर पहले अवतार लिया है परन्तु तुम मनुष्यों के उत्तमोत्तम ऐसा चक्रवर्ती पद प्राप्त कर बहुत काल तक भोगों में ही भूले हो। अरे, सर्प के फण समान दुःखकर इन भोगों से आत्मा को क्या लाभ है ? इनमें किञ्चित् सुख नहीं है; इसलिए हे राजन्! हे मित्र! अब इन भोगों को छोड़कर मोक्षसुख के लिए उद्यम करो। अरे! जब अच्युत स्वर्ग के दैवीय वैभव असंख्य वर्षों तक भोगने पर भी तुम्हें तृप्ति नहीं हुई, तब यह राज्यवैभव तो उसके सामने कुछ भी नहीं है; इसलिए इसका मोह छोड़कर अब मोक्षमार्ग में लगो।'

अपने मित्र मणिकेतु देव के ऐसे हितपूर्ण वचनों को सुनकर भी उस सगर चक्रवर्ती ने उन्हें लक्ष्य में नहीं लिया, वह विषयों में आसक्त और वैराग्य से विमुख ही रहा।

मित्र की ऐसी दशा देखकर, 'इसको अभी भी मुक्ति का मार्ग दूर है' - ऐसा विचार कर वह देव अपने स्थान पर चला गया, सच ही है कि ज्ञानी पुरुष दूसरे के अहित की तो बात ही नहीं करता परन्तु हित की बात भी योग्य समय विचार कर ही करता है। अरे, धिक्कार है ऐसे संसार को, कि जिसकी लालसा

मनुष्य को अपने वचनों से च्युत कर देती है। सगर चक्रवर्ती तो ज्ञानी थे, फिर भी वे भोग आसक्ति के कारण चारित्रदशा लेने के लिए तैयार नहीं हुए।

बहुत समय बाद, वह मणिकेतु देव फिर से पृथ्वी पर आया और अपने मित्र को संसार से वैराग्य कराकर, मुनिदशा अङ्गीकार करवाने के लिए इस समय उसने दूसरा उपाय विचार किया। उसने चारण ऋद्धिधारी छोटे कद के मुनि का रूप धारण किया। वे तेजस्वी मुनिराज अयोध्या नगरी में आये और सगर चक्रवर्ती के चैत्यालय में जिनेन्द्र भगवान को वन्दन कर स्वाध्याय करने बैठ गये। इसी समय सगर चक्रवर्ती भी चैत्यालय में आये और उन्होंने मुनिराज को देखा। मुनिराज को देखकर उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ और भक्ति से नमस्कार करके पूछा -

'प्रभो! आपका तो अद्‌भुतरूप है, आपने इतनी छोटी उम्र में ही मुनिपद कैसे ले लिया ?'

उस समय अत्यन्त वैराग्यपूर्वक उन चारण ऋद्धिधारी मुनिराज ने कहा -

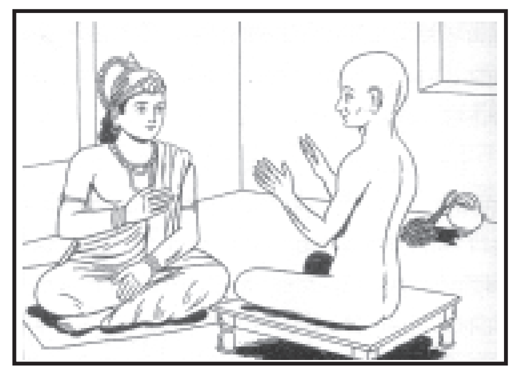

'हे राजन्! देह का रूप तो पुद्‌गल की रचना है और इस जवानी का कोई भरोसा नहीं, जवानी के बाद बुढ़ापा आयेगा ही, इसका मुझे विश्वास नहीं है क्योंकि आयु तो प्रतिदिन घटती जा रही है। शरीर तो मल

का धाम है, विषयों के पाप से भरा हुआ है, उसमें दु:ख ही है; अत: इस अपवित्र, अनित्य और पापमय संसार का मोह क्यों ? यह तो छोड़ने योग्य ही है।

वृद्धावस्था की राह देखते हुए धर्म में प्रमाद करके बैठे रहना तो मूर्खता है। प्रिय वस्तु का वियोग और अप्रिय वस्तु का संयोग तो संसार में होता ही है। संसार में कर्मरूपी शत्रु द्वारा जीव की ऐसी दशा होती है; इसलिए आत्मध्यानरूपी अग्नि के द्वारा उस कर्म को भस्म करके अपने अविनाशी मोक्षपद को प्रगट करो। हे राजन्! तुम भी इस संसार के मोह को छोड़कर मोक्ष की साधना के लिए उद्यम करो।'

मुनिवेश में स्थित अपने मित्र मणिकेतुदेव की वैराग्यभरी बात सुनकर सगर चक्रवर्ती संसार से भयभीत तो हुआ, परन्तु 60 हजार पुत्रों के तीव्र स्नेह से वह मुनिदशा नहीं ले सका। अरे, स्नेह का बन्धन कितना मजबूत है! राजा के इस मोह को देखकर मणिकेतु को खेद हुआ और 'अब भी इसका मोह बाकी है' - ऐसा विचार कर वह पुन: चला गया।

अरे, देखो तो सही! इस साम्राज्य की तुच्छ लक्ष्मी के वश चक्रवर्ती पूर्व भव के अच्युत स्वर्ग की लक्ष्मी को भी भूल गया है। उस स्वर्ग की विभूति के सामने इस राज्य-सम्पदा का क्या मूल्य है कि जिसके मोह में जीव फँसा है परन्तु मोही जीव को अच्छे -बुरे का विवेक नहीं रहता। यह चक्रवर्ती तो आत्मज्ञानी होने पर भी पुत्रों में मोहित हुआ है; पुत्रों के प्रेम में वह ऐसा मोहित हो रहा है कि मोक्ष के उद्यम में भी प्रमादी हो गया है।

★ ★ ★

एक बार उस चक्रवर्ती के सिंह के बच्चों समान शूरवीर और प्रतापवन्त राजपुत्र राजसभा में आये और विनयपूर्वक कहने लगे - 'हे पिताजी! जवानी में शोभे - ऐसा कोई साहस का काम हमें बताइये।'

चक्रवर्ती ने प्रसन्न होकर कहा - 'हे पुत्रों! चक्र के द्वारा अपने सब कार्य सिद्ध हो जाते हैं। हिमवनपर्वत और लवणसमुद्र के बीच अर्थात् छह खण्ड में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसे हम प्राप्त न कर सकें; इसलिए तुम्हारे लिये तो अब एक ही काम शेष है कि तुम इस राजलक्ष्मी का यथायोग्य भोग करो।'

शुद्ध भावनावाले उन राजपुत्रों ने पुन: आग्रह किया -

'हे पिताजी! आप हमें धर्म की सेवा का कोई कार्य सौंपें, यदि आपने कोई कार्य नहीं सौंपा तो हम भोजन नहीं करेंगे।'

उत्साही पुत्रों का आग्रह देखकर राजा को चिन्ता हुई कि उन्हें क्या काम सौंपना चाहिए? विचार करते ही उन्हें याद आया कि हाँ, मुझसे पहले हुए भरत चक्रवर्ती ने कैलाशपर्वत पर अतिसुन्दर जिनप्रतिमाएँ स्थापित की हैं; अत: यदि उसकी रक्षा के लिए चारों ओर खाई खोदकर उसमें गङ्गा नदी का पानी प्रवाहित किया जाए तो उससे मन्दिरों की रक्षा होगी - ऐसा विचार कर राजा ने पुत्रों को वह कार्य सौंपा।

पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके वे राजपुत्र उस कार्य को करने के लिए कैलाशपर्वत पर गये। वहाँ जाकर उन्होंने अत्यन्त भक्तिपूर्वक जिनबिम्बों के दर्शन किये, पूजा की।

'अहा! ऐसे अद्भुत रत्नमय जिनबिम्ब हमने कहीं नहीं

देखे। हमें ऐसे भगवान के दर्शन हुए और महाभाग्य से जिनमन्दिरों की सेवा करने का अवसर मिला' - इस तरह परम आनन्दित होकर वे 60 हजार राजपुत्र भक्तिपूर्वक अपने को सौंपे हुए कार्य को करने लगे।

यहाँ चक्रवर्ती का मित्र मणिकेतु देव फिर से राजा को समझाने के लिए आया। इस समय उसने नया उपाय सोचा।

उसने एक विशाल जहरीले सर्प का रूप बनाया और कैलाशपर्वत पर जाकर उन सभी राजकुमारों को डसकर बेहोश कर दिया, जिससे कोई समझे कि वे मर गये हैं - ऐसा प्रदर्शन किया।

एक साथ 60 हजार राजकुमारों के मरण को देखकर राजमन्त्री भी एकदम घबरा गये, राजमन्त्री जानते थे कि महाराजा को पुत्रों से बहुत प्रेम है, उनके मरण का समाचार वे सहन नहीं कर सकते। उनमें भी एक साथ 60 हजार पुत्रों का मरण! यह 'दुःखद समाचार' राजा को सुनाने की हिम्मत किसी की नहीं हुई।

उसी समय मणिकेतुदेव एक वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण करके सगर चक्रवर्ती के पास आया और अत्यन्त शोकपूर्वक कहने लगा -

'हे महाराज! मेरा इकलौता जवान पुत्र मर गया है, यमराज ने उसका हरण कर लिया है, आप तो समस्त लोक के पालक हो; इसलिए मेरे पुत्र को वापिस लाकर दे दो, उसे जीवित कर दो, यदि आप मेरे इकलौते पुत्र को जिन्दा नहीं करोगे तो मेरा भी मरण हो जाएगा।'

ब्राह्मण की बात सुनकर सगर चक्रवर्ती ने कहा - 'अरे ब्राह्मण! क्या तू यह नहीं जानता कि मृत्यु तो संसार के सभी जीवों को मारती ही है। एकमात्र सिद्ध भगवान ही मरण से रहित हैं, दूसरे सभी जीव, मरणसहित हैं। इस बात को सभी जानते हैं कि जिसकी आयु समाप्त हो गयी, वह किसी भी प्रकार से जीवित नहीं रह सकता। सभी जीव अपनी-अपनी आयु प्रमाण ही जीते हैं, आयु पूर्ण होने पर उनका मरण होता ही है; इसलिए यदि तुम मरणरूप यमराज को जीतना चाहते हो तो शीघ्र ही सिद्धपद की साधना करो। इस जीर्ण-शीर्ण शरीर के या पुत्र के मरण का शोक छोड़कर, मोक्ष प्राप्ति के लिए तत्पर होकर जिनदीक्षा धारण करो। घर में पड़े रहकर बूढ़े होकर मरने के बदले, दीक्षा लेकर मोक्ष का साधन करो।'

इस प्रकार सगर चक्रवर्ती ने उस ब्राह्मण को वैराग्यप्रेरक उपदेश दिया। उस समय ब्राह्मण वेशधारी उस मणिकेतु देव ने कहा - 'हे महाराज! जो आप कहते हो, वह बात यदि वास्तव में सत्य है तो मेरी भी एक बात सुनो! यदि यमराज से बलवान कोई नहीं है अर्थात् मृत्यु से कोई बच नहीं सकता - ऐसा आप कहते हो तो मैं आपको एक गम्भीर समाचार सुनाने के लिए यहाँ आया

हूँ, उसे सुनकर आप भी भयभीत मत होना, आप भी संसार से वैराग्य लेकर मोक्ष की साधना में तत्पर होना।'

सगर चक्रवर्ती ने आश्चर्य से कहा - 'अरे ब्राह्मण देव! कहो, ऐसा क्या समाचार है?'

ब्राह्मण रूपधारी मित्र ने कहा - 'हे राजन्! सुनो, आपके 60 हजार पुत्र कैलाशपर्वत पर गये थे, वहाँ वे सब मृत्यु को प्राप्त हो गये हैं। उन्हें भयङ्कर सर्प ने डस लिया है, एक भी नहीं बच सका... एक साथ 60 हजार पुत्रों को मारनेवाले दुष्ट यमराज को जीतने के लिए आपको भी मेरे समान मोह छोड़कर शीघ्र ही जिनदीक्षा अङ्गीकार कर लेना चाहिए और मोक्ष की साधना करना चाहिए। इसलिए चलो... हम दोनों एक साथ ही दीक्षा ले लेवें।'

ब्राह्मण के वज्रपात जैसे वचन सुनकर ही राजा का हृदय छिन्न-भिन्न हो गया और पुत्रों के मरण के आघात से वे बेहोश हो गये। अहो! जिन पर अत्यन्त स्नेह था - ऐसे 60 हजार राजकुमारों के एक साथ मरण होने की बात वे सुन नहीं सके, सुनते ही उन्हें मूर्च्छा आ गयी।

वह चक्रवर्ती आत्मज्ञानी था.... थोड़ी देर बाद बेहोशी समाप्त होने पर उनकी आत्मा जाग उठी, उन्होंने विचार किया -

'अरे! व्यर्थ का खेद किसलिए? खेद करानेवाली यह राज्यलक्ष्मी या पुत्र-परिवार कुछ भी मेरे नहीं हैं, मेरी तो एक ज्ञानचेतना ही है। अब मुझे पुत्रों का अथवा किसी का भी मोह नहीं है। अरे रे! अब तक मैं व्यर्थ ही मोह में फँसा रहा। मेरे देव

मित्र (मणिकेतु) ने आकर मुझे समझाया भी था, फिर भी मैं नहीं माना। अब तो पुत्रों का भी मोह छोड़कर मैं जिनदीक्षा ग्रहण करूँगा और अशरीरी सिद्धपद की साधना करूँगा।

शरीर अपवित्र है और विषयभोग क्षणभङ्गुर हैं - ऐसा जानकर ऋषभदेव आदि तीर्थङ्कर तथा भरत आदि चक्रवर्ती भी विषय -भोगों के धाम गृह-परिवार को छोड़कर वन में चले गये और चैतन्य में लीन होकर मोक्ष प्राप्त किया। मैं भी अब उनके बताये मार्ग पर ही चलूँगा। मैं मूर्ख बनकर अब तक विषयों में ही फँसा रहा, अब एक क्षण भी इस संसार में नहीं रहूँगा।'

- इस प्रकार सगर चक्रवर्ती वैराग्य की भावना कर ही रहे थे कि तभी उनकी नगरी में महाभाग्य से दृढ़वर्मा नामक केवली प्रभु का आगमन हुआ। सगर चक्रवर्ती अत्यन्त हर्षोल्लास के साथ उनके दर्शन करने गये और प्रभु का उपदेशामृत ग्रहण करके राजपाट छोड़कर जिनदीक्षा धारण कर ली। चक्रवर्ती पद छोड़कर अब चैतन्य के ध्यानरूपी धर्मचक्र से वे सुशोभित होने लगे, उन्हें मुनिदशा में देखकर उनका देवमित्र (मणिकेतु देव) अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

★ ★ ★

अपने मित्र को प्रतिबोध करने का कार्य पूरा हुआ जानकर वह देव अपने असली स्वरूप में प्रगट हुआ और सगर मुनिराज को नमस्कार करके कैलाशपर्वत पर गया। वहाँ जाकर उसने राजपुत्रों को सचेत किया और कहा - 'हे राजपुत्रों! तुम्हारी मृत्यु के मिथ्या समाचार सुनकर तुम्हारे पिता सगर महाराज, संसार से

वैराग्यपूर्वक दिगम्बर दीक्षा अङ्गीकार कर मुनि बन गये हैं; अत: मैं तुम्हें ले जाने के लिए आया हूँ।'

अहा, कैसा अद्‌भुत प्रसङ्ग!! वे चरम शरीरी 60 हजार राजकुमार, पिताश्री की वैराग्योत्पादक बात सुनकर एक दम

उदासीन हो गये, अयोध्या के राजमहलों में वापिस लौटने के लिए सभी ने मना कर दिया और संसार से विरक्त होकर सभी राजकुमार, मुनिराजश्री की शरण में गये, वहाँ धर्मोपदेश सुना और एक साथ 60 हजार राजपुत्रों ने मुनिदीक्षा धारण कर ली। **वाह! धन्य वे मुनिराज!! धन्य वे वैरागी राजकुमार!!!**

मणिकेतु देव ने अपने वास्तविक स्वरूप में आकर सभी मुनि भगवन्तों को नमस्कार किया तथा अपने मित्र के हित के लिए यह सब माया करनी पड़ी, इसके लिए क्षमा याचना की। मुनिराजों ने उसे सांत्वना देते हुए कहा – 'अरे! इसमें तुम्हारा क्या अपराध है ? किसी भी प्रकार से जो धर्म में सहायता करे, वही परम हितैषी और सच्चा मित्र है, तुमने तो हमारा परमहितरूप काम किया है।'

इस प्रकार मणिकेतु देव का मित्र को मोक्षमार्ग की प्रेरणा देने का कार्य सिद्ध हुआ, साथ ही साथ 60 हजार राजकुमारों ने भी मुनिधर्म अङ्गीकार किया; अत: वह प्रसन्नचित्त वापिस से स्वर्ग में चला गया।

साठ हजार राजकुमार मुनिराजसहित सगर महाराज आत्मा के ज्ञान-ध्यानपूर्वक विहार करते हुए अन्त में सम्मेदशिखर तीर्थधाम पधारे और शुक्लध्यान के बल से केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद को प्राप्त किया। उन सभी सन्तों को हमारा नमस्कार हो।

शास्त्रकार कहते हैं कि जगत में जीवों को धर्म की प्रेरणा देनेवाले मित्र के समान हितकारी अन्य कोई नहीं।

'सच्चा मित्र हो तो ऐसा – जो धर्म की प्रेरणा दे।' ●

– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

प्रचुर वीतरागता के धनी

सर्वत्र वीतरागता ही जैनधर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टि हो, देशव्रती श्रावक हो अथवा सकलव्रती मुनिराज हों, सर्वत्र भूमिका के योग्य शुभभाव होने पर भी परिणति में जितनी वीतरागता परिणमित है, उतना धर्म है; साथ में वर्तनेवाला शुभराग, वह कहीं धर्म अथवा धर्म का परमार्थ साधन नहीं है। सुख निधान निज ज्ञायकस्वभाव में रमनेवाले मुनिराज को भी अभी पूर्ण वीतराग -सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हुई है, पूर्ण दशा तो अरहन्त परमात्मा को प्रगट हुई है। पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं होने पर भी मुनिराज को वीतरागस्वभावी निज ज्ञायक भगवान के उग्र आलम्बन से प्रचुर वीतरागता उत्पन्न हुई है। *(वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 126)*

7

एक हाथी की आत्मकथा

एक धर्मात्मा हाथी अपनी जीवन कथा कहता है –

भगवान ऋषभदेव के पुत्र महाराज बाहुबली की राजधानी पोदनपुर... जहाँ से असंख्यात राजा मोक्षगामी हुए,... बाद में एक अरविन्द नाम का राजा हुआ... मैं (हाथी का जीव) पूर्व भव में इसी अरविन्द महाराजा के मन्त्री का पुत्र था; मेरा नाम मरुभूति था और कमठ मेरा बड़ा भाई था।

एक बार हमारे भाई कमठ ने क्रोधावेश में आकर पत्थर की बड़ी शिला पटक कर मुझे मार दिया.... सगे भाई ने बिना किसी अपराध के मुझे मार डाला... रे संसार!

उस समय मैं अज्ञानी था; इसलिए आर्तध्यान से मर कर तिर्यञ्चगति में हाथी हुआ। मुझे लोग 'वज्रघोष' नाम से बुलाते थे।

मेरा भाई कमठ, क्रोधपूर्वक मरकर भयङ्कर सर्प हुआ और महाराजा अरविन्द दीक्षा लेकर मुनि हुए।

हाथी अपनी आप बीती बताते हुए आगे कहता है – हाथी के इस भव में मुझे कहीं आराम नहीं मिलता था... मैं बहुत क्रोधी

और विषयासक्त था... सम्मेदशिखर के पास एक वन में रहता था, भविष्य में जहाँ से मैं मोक्ष प्राप्त करूँगा – ऐसे महान सिद्धिधाम के समीप रहते हुए भी उस समय मेरी आत्मा सिद्धपन्थ को नहीं जानती थी। अपने को उस वन का राजा मानने से वहाँ से निकलनेवाले मनुष्यों एवं अन्य जानवरों को मैं बहुत दुःख देता था।

एक बार एक महान संघ सम्मेदशिखरजी तीर्थ की यात्रा करने जा रहा था, हजारों मनुष्यों की भीड़ थी। हमारे राजा अरविन्द जो कि मुनि हो गये थे, वे मुनिराज भी इस संघ के साथ ही थे.... लेकिन पहले मुझे इस बात का पता नहीं था।

उस महान संघ ने मेरे वन में पड़ाव डाला... मेरे वन में इस संघ का कोलाहल मुझसे सहन नहीं हुआ... क्रोध से पागल होकर मैं दौड़ने लगा और जैसे ही कोई मेरे चङ्गुल में आया, उसको मैं कुचलने लगा... कितने ही मनुष्यों को सूँड में पकड़कर ऊँचा उछाला, कितने ही को पैर से नीचे कुचल डाला... रथ, घोड़ा इत्यादि भी तोड़-फोड़ दिये। संघ में चारों ओर हा-हाकार और भगदड़ मच गयी।

क्रोध के आवेग में दौड़ते-दौड़ते में एक वृक्ष के पास आया... वृक्ष के नीचे एक मुनिराज बैठे थे... उन्होंने अत्यन्त शान्त-मधुर मीठी नजरों से मेरी ओर देखा... हाथ ऊँचा करके वे मुझे आशीर्वाद दे रहे थे... अथवा मानो आदेश दे रहे थे कि 'रुक जा'।

मुनिराज को देखते ही अचानक न जाने क्या हुआ कि मैं स्तब्ध रह गया। क्रोध को मैं भूल गया... मुनिराज मेरी ओर ही

देख रहे थे... मुझे बहुत अच्छा लगा... जैसे, वे मेरे कोई परिचित हों – इस प्रकार मुझे प्रेमभाव जागृत गया हो।

अहा, मुनिराज के सान्निध्य से क्षणमात्र में मेरे परिणाम चमत्कारिक ढंग से पलट गये... क्रोध के स्थान पर शान्ति मिल गयी।

मैं टकटकी लगाकर देख रहा था... वहाँ मुनिराज करुणादृष्टि से मुझे सम्बोधित करते हुए बोले – 'हे गजराज! हे मरुभूमि! तू शान्त हो!! तुझे क्रूरता शोभा नहीं देती... पूर्व भव में तू मरुभूमि था और अब भरतक्षेत्र का तेईसवाँ तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ होगा। तुम्हारी महान आत्मा इस क्रोध से भिन्न, अत्यन्त शान्त चैतन्यस्वरूप है... उसे तू जान!'

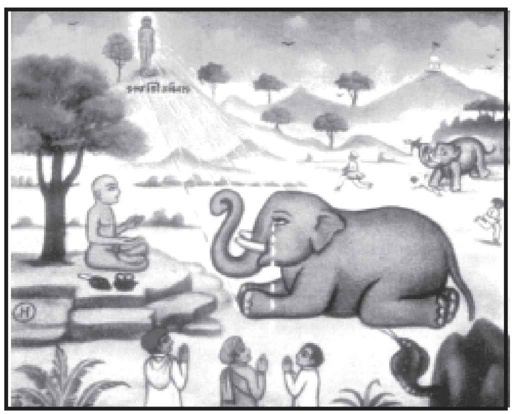

अहा! मुनिराज मुझे अत्यन्त मधुर रस पिला रहे थे... मैं मुग्ध होकर उनकी ओर देखता रहा... इतने में मेरी नजर उनकी छाती के श्री वत्स चिह्न पर पड़ी... मेरे अन्तर में स्मृति जागी... अरे, इन्हें तो मैंने पहले भी कभी देखा है! ये कौन हैं? ये तो मेरे राजा अरविन्द हैं, अहा! ये राजपाट छोड़कर मुनिदीक्षा में वीतरागता से कैसे सुशोभित हो रहे हैं!! इनके पास मुझे कितनी शान्ति मिल रही है! अहो, इन मुनिराज की निकटता

प्राप्त करने से मैं क्रोध के घोर दुःख से छूट गया... और ये मुझे मेरा शान्त तत्त्व बता रहे हैं।

– ऐसा विचार करके मैं विनय से सूँड नवाकर श्री मुनिराज के सन्मुख खड़ा रहा... लोगों का और मेरा – दोनों का महा उपद्रव शान्त हुआ, मेरे आँखों से अश्रुधारा बहने लगी।

मुनिराज ने मेरी सूँड पर हाथ रखकर प्रेम से कहा – 'वत्स! तु शान्त हो! मैं अरविन्द राजा, मुनि हुआ हूँ और तू इससे पहले के भव में मेरे मन्त्री का पुत्र मरुभूति था... उसे याद कर!'

यह सुनते ही मुझे मेरे पूर्व भव की याद आयी, जातिस्मरण हुआ और वैराग्य से मेरे परिणाम विशुद्ध होने लगे...।

श्री मुनिराज ने कहा – 'हे भव्य! पूर्व भव में तुम्हारे सगे भाई ने ही तुझे मारा था... ऐसे संसार से अपने चित्त को तू विरक्त कर... क्रोधादि परिणामों को छोड़कर शान्तचित्त से अपने आतमतत्त्व का विचार कर... तू कौन है? तू हाथी नहीं, तू क्रोध नहीं, शरीर और क्रोध से भिन्न तू तो चेतनस्वरूप है... अरे! अपने चैतन्यस्वरूप को तू समझ...।'

श्री मुनिराज की मधुर वाणी मेरी आत्मा को जागृत करने लगी... मुनिराज की वीतरागी शान्ति को देखकर मैं मुग्ध हो गया। अहो! कितने निर्भय, कितने शान्त, कितने दयालु!! मेरे क्रोध की अशान्ति और मुनिराज की चेतना में रहनेवाली शान्ति – इन दोनों के महान अन्तर का ज्ञान होते ही मेरा उपयोग, क्रोध को तजकर क्षमा की ओर जाने लगा... मेरा क्रोधरूपी पागलपन कहीं दूर चला गया....!

श्री मुनिराज अपनी मधुर वाणी से मुझे सम्बोधित करते हुए कह रहे थे – 'हे भव्य! अब तुम्हारे भव दुःख का अन्त नजदीक आ गया है, आत्मज्ञान करके अपूर्व कल्याण करने का अवसर आ गया है.... तुम अन्तःवृत्ति के द्वारा चैतन्यतत्त्व को देखो.... उसकी अद्भुत सुन्दरता को देखकर तुम्हें अपूर्व आनन्द होगा...।

और अब सुनो! अतिशय हर्ष की बात यह है कि इस भव में ही सम्यक्त्व प्राप्त कर, आत्मा की आराधना में आगे बढ़ते -बढ़ते आठवें भव में तुम भरतक्षेत्र की चौबीसी में तेईसवें त्रिलोकपूज्य तीर्थङ्कर भगवान पार्श्वनाथ होओगे... अब तुम्हारे मात्र सात भव शेष हैं... और वे भी सब भव, आत्मा की आराधना से सहित हैं...।'

श्री मुनिराज से अपने भव के अन्त बात सुनकर मुझे अपार प्रसन्नता हुई... और तभी से अन्तरङ्ग में चैतन्यतत्त्व के परम -आनन्द का स्वाद चखने के लिए बारम्बार मेरा मन करने लगा। 'ऐसे वीतरागी सन्त का मुझे समागम मिला है, इसलिए मुझे इसी समय कषाय से भिन्न शान्त चैतन्यरस की अनुभूति करना चाहिए' – ऐसे शान्तपरिणाम के द्वारा मेरी चेतना अन्तर में उतर गयी... मैंने अपने परमात्मस्वरूप से साक्षात् प्रत्यक्ष दर्शन किये... मुझे परम-आनन्दमय स्वानुभूतिसहित सम्यक्त्व प्राप्त हुआ।

अहा! मुनि भगवन्त के एक क्षणमात्र के सत्सङ्ग ने मुझे मेरे परमात्मा से मिलाया। मेरा अक्षय चैतन्यनिधान मुझे प्राप्त हुआ... भव-दुःख का अन्त और मोक्ष की साधना का प्रारम्भ हुआ।

अहो! मुनिराज के उपकार की क्या बात! भाषा के शब्द तो मेरे पास नहीं थे तो भी मन ही मन मैंने उनकी स्तुति की, शरीर की चेष्टा के द्वारा वन्दना करके अपनी भक्ति व्यक्त की....। प्रभो! इस पामर जीव को आपने पशुता से छुड़ा दिया... हाथी का यह भारी शरीर मैं नहीं, मैं तो चैतन्य परमात्मा हूँ, पल-पल में अन्तर्मुख परिणाम से आनन्दमय अमृत की नदी मेरे अन्तर में उछल रही थी...। आत्मा अपने एकत्व में रमने लगा... चैतन्य की गम्भीर शान्ति में ठहरते हुए इस भव से पार उतर गया... कषायों की अशान्ति से आत्मा छूट गया... मैं अपने में तृप्त-तृप्त हो गया।

सम्यग्दृष्टि हुआ हाथी कहता है – 'मेरी ऐसी दशा देखकर संघ के मनुष्यों को भी बहुत आश्चर्य हुआ। अरे! यह कैसा चमत्कार! कहाँ एक क्षण पहले का पागल हाथी! और कहाँ यह वैराग्यभाव के शान्तरस में सराबोर हाथी!'

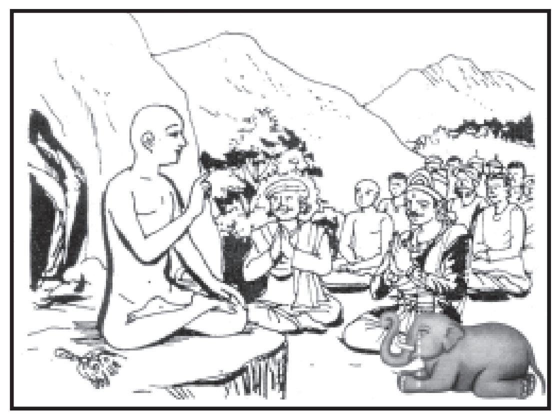

मुनिश्री ने उन्हें समझाते हुए कहा – 'हे जीवों! यह हाथी एकाएक शान्त हो गया – यह कोई चमत्कार नहीं, यह तो चैतन्यतत्त्व की साधना का प्रताप है.... अथवा इसे चैतन्य का चमत्कार कहो....। कषाय, आत्मा

का स्वभाव नहीं है, आत्मा का स्वभाव तो शान्त-चैतन्यस्वरूप है, उसे लक्ष्य में लेते ही आत्मा, क्रोध से भिन्न अपने अतीन्द्रिय चैतन्यसुख का अनुभव करता है। यह हाथी इस समय ऐसे परम चैतन्यसुख का अनुभव कर रहा है। अब यह आत्मज्ञान प्राप्त कर मोक्षमार्ग में प्रवेश पा गया है... इसका जीवन धन्य हो गया है... यह धर्मात्मा है... और भावी तीर्थङ्कर है।'

मुनिराज के वचन सुनकर लोगों को अपार प्रसन्नता हुई... चारों ओर आश्चर्य और हर्ष का वातावरण छा गया। अनेक जीवों ने मुनिराजश्री की बात सुनकर और मेरी शान्तदशा देखकर चैतन्य की महिमा को समझकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

मैं शान्त दृष्टि से मनुष्यों को देखकर क्षमा माँग रहा था और मन ही मन यह विचार कर कि 'अहो! यह तो मुनिराज का उपकार है, इनके ही सत्सङ्ग का प्रताप है...', मेरा मन उनके प्रति कृतज्ञता से भर उठा।

मुनिराज ने प्रसन्न होकर मुझे आशीर्वाद दिया।

फिर, आत्मज्ञान प्राप्त हो जाने से मुझे अतिशय वैराग्य हुआ... तथा मुनिराज के समक्ष मैंने श्रावकधर्म के पाँच अणुव्रत धारण किये।

एक बार मैं कहीं पर कीचड़ में फँस गया, वहाँ मेरे पूर्वभव का भाई कमठ मरकर सर्प हुआ था, उस सर्प ने मुझे डस लिया। मैं सम्यक्त्वसहित समाधिमरण करके स्वर्ग में देव हुआ और सर्प का जीव नरक में गया।

अगले भव में मैं मनुष्य होकर मुनिदशा में ध्यान में बैठा था,

वहाँ अजगर हुए कमठ के जीव ने मुझे डस लिया, फिर से मैं स्वर्ग में गया और अजगर नरक में।

इसके बाद के भव में मैं वज्रनाभि चक्रवर्ती हुआ। एक बार वैराग्य का कारण पाकर मैंने मुनिदशा अङ्गीकार कर ली। मैं मुनि होकर ध्यान में बैठा था, तभी शिकारी भील हुए कमठ के जीव ने बाण से मुझे वेध डाला। पुन: मैं स्वर्ग में गया और भील नरक में।

उसके बाद के भव में मैं अयोध्यानगरी में आनन्दकुमार नाम का महाराज हुआ। वहाँ वैराग्यपूर्वक मुनि होकर सोलह कारण भावना के द्वारा मैंने तीर्थङ्करप्रकृति का बन्ध किया। एक बार मैं मुनिदशा में आत्मध्यान में बैठा था उसी समय सिंह हुए कमठ के जीव ने मुझे खा लिया... मैं स्वर्ग का देव हुआ और कमठ का जीव नरकादि में भ्रमण करते-करते 'संगम' नाम का देव हुआ।

अन्तिम भव में मैंने वाराणसी (काशी) नगर में पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर के रूप में अवतार लिया... दीक्षा लेकर मुनि होकर मैं आत्मध्यान में मग्न था, उसी समय संगमदेव ने उपद्रव किया, लेकिन मैं आत्मसाधना में अडिग रहकर केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थङ्कर परमात्मा हुआ... इन्द्रों ने आकर आश्चर्यकारी महोत्सव मनाया। तीर्थङ्करत्व की चरम महिमा को देखकर, कमठ के जीव, उस संगमदेव को अपनी भूल (अज्ञानता) का भान हुआ। उसने क्षमा माँगकर भक्तिपूर्वक उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन प्राप्त किया।

पारस के साथ लोहा भी सोना बन गया। धन्य है सत्सङ्ग की

महिमा! जिसके प्रताप से मैं हाथी का जीव भी मोक्षमार्गी बन गया और आज सिद्धों की नगरी में अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द से तृप्त हूँ।

बन्धुओं! यह हाथी कोई और नहीं, अपने भगवान पार्श्वनाथ का ही जीव है। पहले सिंह की फिर इस हाथी की कहानी सुनकर, तुम भी सत्समागम की महिमा का विचार करना। हाथी जैसा तिर्यञ्च-प्राणी भी मुनिराज के क्षणभर के समागम से क्रोधभाव शान्त करके आत्मतत्त्व के परमार्थस्वरूप को समझकर ***पशु से परमात्मा*** *बन जाता है, उस सत्समागम की कितनी महिमा! जीवन में आत्महित करने के लिए सत्समागम (सत्सङ्ग) जैसा साधन कोई दूसरा नहीं है। कभी महाभाग्य से क्षणभर के लिए भी धर्मात्मा के सत्सङ्ग का सुयोग बन जाए तो प्रमाद (आलस) नहीं करना। सत्सङ्ग का महान लाभ लेकर आत्मकल्याण कर लेना।* ●

– ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

8

जो-जो देखी वीतराग ने

'बारह वर्ष बाद द्वीपायन मुनि के क्रोध के निमित्त से द्वारिका जल जाएगी, द्वीपायन के क्रोध में मदिरापान निमित्त बनेगा तथा श्रीकृष्ण की मृत्यु उनके भाई जरत्कुमार के हाथों से होगी।'

– भगवान नेमिनाथ की दिव्यध्वनि में ये वचन सुनकर श्रीकृष्ण चिन्तित हो गये और सम्पूर्ण द्वारिका में वैराग्य के निमित्त यह घोषणा करवा दी –

'मेरे कुटुम्ब के लोग एवं द्वारिकावासी जो कोई दीक्षा लेना चाहे, वह दीक्षा ले ले; संयम धारण करना चाहें, वे संयम धारण करें। सभी जीव शीघ्र आत्मकल्याण करें, उनके परिवार की जिम्मेदारी हमारी है।'

भगवान की वाणी पर जिन्हें अटूट श्रद्धान था, कि जो भगवान की वाणी में आया, वह होकर ही रहेगा, वह होनी टल नहीं सकती; इसलिए वे वैराग्यपूर्वक घरबार छोड़कर भगवान के पास जाकर दीक्षित हो गये, स्त्रियाँ आर्यिका हो गयी, अनेक जीवों ने यथायोग्य धर्म धारण कर लिया, परन्तु जिन्हें श्रद्धान नहीं था अथवा शङ्कित थे, वे द्वारिका न जले – ऐसी व्यवस्था करने में लग गये।

श्री कृष्ण ने सम्पूर्ण द्वारिका में मद्य-निषेध करा दिया, सम्पूर्ण मदिरा नगर से दूर गिरि कन्दराओं में फिंकवा दी। द्वीपायन मुनि को जब इस बात का पता चला तो वे द्वारिका छोड़कर अन्यत्र देशान्तर में चले गये और 'मेरे कारण भाई का मरण न हो' – ऐसा विचार कर जरत्कुमार भी वन में चले गये और शिकार करके अपना जीवन-यापन करने लगे।

सम्पूर्ण व्यवस्था व्यवस्थित कर दी गयी, मानों भगवान को चुनौती दी हो कि देखें, अब द्वारिका कैसे जलती है ? – **'न होगा बाँस न बजेगी बाँसुरी।' जिनकी अधोगति होनी थी, उन्हें भगवान की बात को टालने का विकल्प आया।**

भगवान की वाणी में तो द्वारिका जलने के उपादान के साथ-साथ निमित्तों का भी स्पष्ट उल्लेख था, परन्तु निमित्ताधीन दृष्टिवालों का ध्यान उपादान की ओर तो गया नहीं और निमित्तों का हटाकर अपने को सुरक्षित समझने लगे। **'जिनकी होनहार की खोटी होती है, उनकी श्रद्धा सर्वज्ञ पर भी नहीं टिकती।'**

★ ★ ★

अभी बारह वर्ष व्यतीत होने में मात्र कुछ समय ही शेष था, तब कुछ यादवकुमार वन-क्रीड़ा के लिये गये थे। क्रीड़ा करते -करते बहुत देर हो गयी, वहाँ उन्हें प्यास ने व्याकुल कर दिया और जल खोजते-खोजते वे उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ बारह वर्ष पूर्व द्वारिका की मदिरा निष्पन्न सामग्री फेंकी गयी थी। वहाँ वर्षा के होने से मादक सामग्री में जल मिलने पर गड्ढे मदिरायुक्त पानी से भर गये थे। कुमार उसे देखकर बहुत प्रसन्न हुए और सबने जल समझकर बहुत आनन्द से वह पानी पिया

और फिर वे सभी द्वारिका की ओर चल दिये। रास्ते में उनका नशा तेज हो गया और वे नाना तरह की चेष्टाएँ करते हुए द्वारिका के समीप आये।

यहाँ (भ्रम से) बारह वर्ष व्यतीत हुए जानकर द्वीपायन को विकल्प आया कि चलकर देखें तो सही, द्वारिका का क्या हुआ ? और वे भी होनहार की पुकार से वही समीप आकर स्थित हो गये।

जब कुमारों ने द्वीपायन को देखा तो उन्हें द्वारिका के विध्वंस की बात स्मरण हो गयी और वे क्रोधित होकर उन पर पत्थर फेंकने लगे, नाना तरह की गालियाँ देकर उनका अपमान करने लगे,

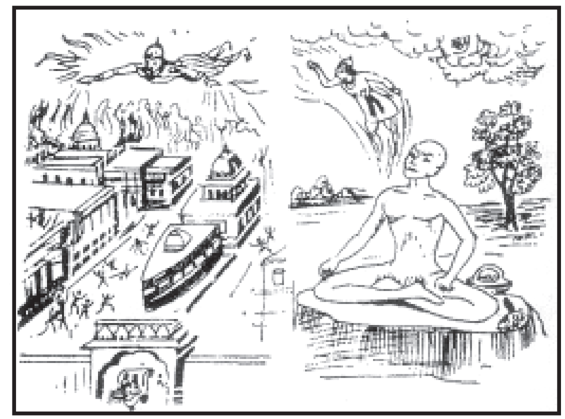

इससे द्वीपायन अत्यन्त क्रुद्ध हो गये और 'सम्पूर्ण द्वारिका भस्म कर दूँ' – ऐसा विचार कर अशुभ तेजस के पुतले से सम्पूर्ण द्वारिका में आग लगा दी।

क्षण भर में ही द्वारिका आग की लपटों में भभकने लगी।

अरे रे ! द्वीपायन ने मुनिधर्म से भ्रष्ट होकर अपना घोर अहित कर लिया। क्रोध की अग्नि में द्वारिका के साथ-साथ अपने आपको भी भस्म कर लिया। धिक्कार ! ऐसे क्रोध को !!

★ ★ ★

वाह री होनहार! होकर ही रही, देखते-देखते द्वारिका के लोग, पशु, पक्षी आग की भयङ्कर लपटों में फड़फड़ाते हुए भस्म होने लगे।

बचाओ... बचाओ... बचाओ... चारों ओर घोर क्रन्दन और हा-हाकार मच गया, पर कौन बचाये? किसे बचाये?

चारों ओर चीत्कार, बच्चों की करुण पुकार... पर कौन सुने...? किसकी सुने... अरे रे! देवों के द्वारा रची हुई द्वारिका की यह दशा!!

अब, कहाँ गये वे देव! कहाँ गया अर्द्धचक्रवर्ती का वह पुण्य! कहाँ गये वे तीन खण्ड का अभिमान करनेवाले! अब कोई नजर नहीं आता, क्षण भर में सम्पूर्ण अभिमान चूर-चूर हो गया। सर्वज्ञता द्वारा देखी भवितव्यता दुर्निवार है, उसे कौन रोके?

'जाकरि, जैसे जाहि समय में जो हो तब, जा द्वार।
सो बनि है, टरि है कछु नाहीं, करि लीनों निरधार...।'

अरे! चक्रवर्ती का पुण्य भी क्षणभङ्गुर, अस्थिर और अशरण है तो ऐसे पुण्य पर क्या इतराना?

श्रीकृष्ण और बलभद्र इस सर्वनाश को देखकर घबड़ा गये, अब क्या करें?... अनाथ... असहाय... अरे! स्वर्णमहल, रानियां, पुत्र, कुटुम्ब, परिवार सब जल रहा है, माता-पिता जल रहे हैं; प्यारी प्रजा, पशु-पक्षी जल रहे हैं! बचाओ रे... कोई बचाओ... कोई देव तो सहाय करो।... कहाँ गये सब? अरे! मेरा पुण्य भी क्षीण हो गया क्या...? कहाँ जाएँ? किसे पुकारें?... कौन है अब टेर सुननेवाला? क्या हुआ यह...?

'वही हुआ जो होना था।'

जब आग बुझाने का कोई उपाय न दिखा तो दोनों भाई सागर से जल ला-लाकर आग बुझाने लगे परन्तु रे दुर्भाग्य! वह जल भी तेल की तरह धधकने लगा।

अन्त में दोनों भाइयों ने आग बुझाना असाध्य जानकर माता-पिता को रथ में बैठाकर घोड़े जोते, परन्तु रथ नहीं चला, हाथी जोते तो वे भी रथ को नहीं खींच सके, पहिये जमीन में घुस गये; अन्त में निराश होकर स्वयं दोनों भाई रथ में जुत गये।

अरे रे! देखों पुण्य-पाप की विचित्र दशा! हजारों देव जिनकी सेवा करते थे, वे आज स्वयं बैलों की तरह रथ में जुत गये, परन्तु हजारों सिंहों का बल धारण करनेवाले बलदेव और वासुदेव से भी वह रथ नहीं चल सका। जब अधिक जोर लगाया तो नगर के दरवाजे स्वतः बन्द हो गये। जब दोनों भाई दरवाजा तोड़ने लगे, तब आकाशवाणी हुई कि छोड़ दो माता-पिता को, तुम दोनों के अलावा और कोई जीवित नहीं बच सकेगा। अन्त में हताश होकर दोनों भाई अपने हाथों माता-पिता को अग्नि में जलता छोड़कर बाहर निकल आये।

अहो! कैसा होगा वह करुण दृश्य!

वैराग्य... वैराग्य... वैराग्य... अरे! इस दुःखमय संसार से

वैराग्य! बलदेव और वासुदेव दोनों की आँखों में आँसू की धार... सम्पूर्ण द्वारिका, माता-पिता, कुटुम्ब-परिवार, प्यारी प्रजा को आँखों से

जलती देखकर दोनों भाई एक-दूसरे के गले से लगकर फूट-फूटकर रो पड़े। अब कहाँ जाएँ... ? किसकी शरण लें ?... सब असहाय! सब अशरण!!

देखते ही देखते स्वर्णपुरी/द्वारिकापुरी वीरान हो गयी। छह मास तक आग की लपटें निकलती रहीं; धीरे-धीरे ज्योति अस्त हो गई और सब-कुछ सुनसान हो गया।

★ ★ ★

जिस जीव का, जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से, जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने जाना है; उस जीव का, उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टालने में समर्थ है ? अर्थात् उसे कोई नहीं टाल सकता।

जिनकी भले होनहार थी, उन्होंने आयु का अन्त जानकर समाधिमरणपूर्वक देह छोड़ी और जिनकी होनहार खोटी थी, जिन्हें सर्वज्ञ पर भरोसा नहीं था, वे जीव आर्तपरिणाम से मरण कर दुर्गति को प्राप्त हुए।

अन्त में दोनों भाइयों ने दक्षिण देश में पाण्डवों के पास जाने का विचार बनाया और उस तरफ चल दिये। कौशाम्बी के वन में आने पर श्रीकृष्ण तृषा से व्याकुल हो गये और भाई से पानी लाने को कहा ? वे जल खोजते-खोजते बहुत दूर निकल गये। वहाँ उन्हें सरोवर दिखाई दिया, तब वे कमल-पत्रों का पात्र बनाकर उसमें पानी लाने लगे।

इधर श्रीकृष्ण पीताम्बर वस्त्र पहने पैर पर पैर रखकर वृक्ष की शीतल छाया में लेट गये तो उन्हें नींद आ गयी। तभी एक

बाण सनसनाहट करता हुआ आया और उनके पैर में लगा। कौन था यह बाण चलानेवाला ? - यह था उनका ही भाई जरत्कुमार। 'अरे! मेरे कारण भाई का मरण न हो', इसलिए तो वह बारह वर्ष से वन में भटक रहा था। पैर के मणि को हिरण की आँख जानकर उसने बाण छोड़ दिया और बाण लगते ही कृष्ण के प्राण पखेरु उड़ गये।

अरे! सुदर्शनचक्र से भी जिसका मरण न हुआ, वह आयु के क्षीण होते ही बाण से मारा गया। जिनके पुत्र नारायण और बलभद्र, वे माता-पिता भी पानी के बिना ही मर गये और जिनके हजारों पुत्र, वे नारायण भी पानी के बिना ही मरण को प्राप्त हुए। जन्म के समय कोई बाजे बजानेवाला नहीं मिला और मरण-समय कोई पानी पिलानेवाला नहीं मिला। अहो! संसार की दशा विचित्र है! होनहार टल नहीं सकती।

अहो! हजारों देव जिसकी सेवा करें - ऐसा तीन खण्ड का अधिपति भी पानी-पानी करते चल बसा। धिक्कार है इस संसार

को! क्या भरोसा इस पुण्य के संयोग का? सब कुछ क्षणभङ्गुर... अशरण!

अरे! जहाँ नित्य नये मङ्गल होते थे, वह द्वारिका आज सुनसान हो गयी। राजमहल जलकर श्मशान हो गये। कल के अहङ्कार करनेवाले आज चिरनिद्रा में सो गये। क्षण में क्या से क्या हो गया... ?

सत्य ही कहा है -

'जो जो देखी वीतराग ने, सो सो होसी वीरा रे।
बिन देख्यों होसी नहिं क्यों ही, काहे होत अधीरा रे॥
समयो एक बढै, नहिं घटसी, जो सुख-दुःख की पीरा रे।
तु क्यों सोच करै मन कूडो, होय वज्र ज्यों हीरा रे॥
जो जो देखी वीतराग ने.................................' ●

- पण्डित राजकुमार शास्त्री

मुनिराज : प्रचुर समाधिसुख के प्रति उत्सुक

मुनिराज समाधिपरिणत तो हैं परन्तु सनातन शुद्ध निज ज्ञायकद्रव्य सामान्य का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्राप्त करने के लिये वे अति आतुर हैं। जैसे, पाँच लाख रुपये का स्वामी, पच्चीस लाख कमाने की भावना करता है; इसी प्रकार मुनिराज, निज ज्ञायक के उग्र अवलम्बन से प्रचुर समाधिसुख प्रगट करने के लिये अति उत्सुक हैं।

(वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 204)

9

सौतन की डाह

चन्दना, महावीर की मौसी, उसने महावीर के साथ तत्त्वचर्चा -पूर्वक सम्यग्दर्शन ग्रहण किया और महावीर के समान ही शादी के बन्धन के बिना, निर्बन्ध जीवन बिताने का निर्णय कर लिया। अन्तरङ्ग में सम्यक्त्वरत्न से जिसका आत्मा विभूषित था तो बाहर की कञ्चनवर्णी काया भी अत्यन्त मनोहर और सुन्दर थी। वैराग्यमय जीवन आत्मभावनापूर्वक मोक्षमार्ग की साधना में व्यतीत हो रहा था।

वह चन्दनाकुमारी एक दिन अपनी सखियों के साथ नगर के बाहर उद्यान में क्रीड़ा कर रही थी। उसके गुलाबी यौवन के रूप-सौन्दर्य पर आकर्षित होकर एक विद्याधर उसका अपहरण करके ले गया, परन्तु अपनी स्त्री के डर से उसने चन्दना को कौशाम्बी के वन में ही छोड़ दिया और इसी घटना के साथ चन्दना के जीवन की कर्मलीला प्रारम्भ हो गयी।

कहाँ वैशाली ?... और कहाँ कौशाम्बी ? वन में अकेला देखकर उसका हृदय काँपने लगा, किसी अशुभ होनहार की बात उसके हृदय में घूमने लगी। वन में एक वन-सरदार ने उसे फिर

पकड़ लिया और ले जाकर एक वेश्या को सौंप दिया। अरे! अचानक यह क्या से क्या हो गया?

इस अद्भुत सुन्दरी को देखकर वेश्या ने सोचा कि वाह! ऐसी सुन्दरी तो कौशाम्बी के लोगों ने कभी नहीं देखी होगी। रूप के बाजार में बेचकर इसका बहुत धन मिलेगा। ऐसा सोचकर वेश्या, सती चन्दना को बेचने वेश्या बाजार ले गयी।

अरे रे! इस संसार में पुण्य-पाप की कैसी विचित्रता है कि वेश्या के हाथों एक सती सरेबाजार बिक रही है। अपनी इस अशुभ होनहार को देखकर चन्दना की आँखों से आँसू बहे जा रहे थे, वह मन ही मन पञ्च परमेष्ठी का स्मरण करने लगी।

रे देव! जहाँ की महारानी मृगावती स्वयं चन्दना की बहिन है, ऐसी महावीर की मौसी कौशाम्बीनगरी के वेश्या बाजार में एक दासी के रूप में बिक रही है।

वेश्या आतुरतापूर्वक किसी बड़े ग्राहक की राह देख रही थी, इतने में योग से नगरसेठ वृषभदत्त वहाँ से निकले। सेठ सज्जन और उदारप्रवृत्ति के थे। बाजार में खड़ी चन्दना का रूप देखकर वे आश्चर्यचकित रह गये। अरे! राजकुमारी जैसी यह कन्या यहाँ कहाँ से आयी! और दासी के रूप में क्यों बिक रही है? इसकी निश्चल एवं निर्विकार मुद्रा को देखकर सेठ को लगा कि यह तो सङ्कट में घिरी कोई खानदानी कुल की कन्या है। इसके मुख पर किसी विषय-लालसा का परिणाम भी नजर नहीं आता, फिर भी यह भरे बाजार में वेश्या के रूप में बिक रही है - इसमें अवश्य कोई रहस्य है। इसको दुःख से छुड़ाऊँ,

ताकि यह किसी दुष्ट जीव के हाथ में न फँस पाये - ऐसा विचारकर सेठ उसके समीप गये और चन्दना के सम्बन्ध में पूछताछ करने लगे।

सेठ को वेश्या के पास खड़ा देखकर नगरवासियों के आश्चर्य का कोई ठिकाना न रहा। अरे! नगर का धर्मात्मा यह वृषभदत्त भी आत्मभान भूलकर इस पर मोहित हो गया है? असम्भव! तो फिर यह किसलिए बातचीत कर रहा है, इस तरह अनेक प्रकार का कौतुहल लोगों को हुआ। तभी...

''णमो अरिहंताणं णमो सिद्धाणं... णमो आयरियाणं...''

अरे! यह कन्या तो णमोकार मन्त्र का उच्चारण कर रही है, अवश्य यह कोई संस्कारी जैन कन्या है। धन्य है इसको! मेरे भी कोई सन्तान नहीं है; इसलिए घर ले जाकर इसका अपनी पुत्री की तरह पालन करूँगा - ऐसा विचारकर सेठ, वेश्या को मुँहमाँगी स्वर्ण मोहरें देकर चन्दना को ले गये।

धन्य है धर्मात्माओं का धर्मवात्सल्य!

★★★

प्रतिकूल प्रसङ्गों में ज्ञानी को ज्ञानचेतना विशेष जागृत हो जाती है। इस परीक्षा की घड़ी में वह तत्त्वविचार में सावधान हो जाता है। वह एक प्रेक्षक की भाँति इस संसार की लीला देखता है। विरक्त हृदय से इन परिस्थितियों में घबड़ाता नहीं। धन्य है ज्ञानियों का अद्भुत चैतन्य-चमत्कार!

'पुत्री! तू कोई खानदानी कन्या है, तुम्हारी निर्विकारी चेष्टा, तुम्हारे वस्त्र, तुम्हारे नेत्र, तुम्हारे खानदान की प्रसिद्धि करते हैं।

बेटी! यहाँ तू निर्भय होकर रहना! मैं जिनेन्द्र परमात्मा का अनुयायी श्रावक हूँ, यहाँ तू मेरी पुत्री की तरह रहना।'

दासी की तरह बिकने पर चन्दना को लगा कि मानो कोई पूर्व जन्म का धर्म पिता ही उसे मिल गया हो। उसका मन एक श्रावक के घर आ जाने से बहुत सन्तुष्ट हुआ, यहाँ उसके शीलधर्म की रक्षा सुगम हो गयी।

अहो! जगत् के परमेश्वर की मौसी भी कर्मोदय से दासी बन गयी। सेठ-सेठानी को पता ही नहीं था, यह दासी कौन है? अरे! एक धर्मात्मा राजकुमारी कर्मयोग से पर के घर दासीरूप में सेवा करे। देखो, यह संसार की दशा! संसार की विचित्रता!!

'हे आत्मन्! इस जगत में क्षणभङ्गुर जाति, कुल, रूप-सौन्दर्य, धन, यौवन आदि संयोग, मद करने योग्य नहीं हैं। कर्मोदय से राजा भी क्षण भर में रङ्क हो जाता है और आत्मा में तो संयोगों का त्रिकाल अभाव है ही।'

★ ★ ★

स्त्रियों को सन्देह करते देर नहीं लगती और सन्देह की कोई दवा भी नहीं होती।

वृषभदत्त सेठ की सेठानी को भ्रम हो गया कि पतिदेव इसके रूप-सौन्दर्य पर मोहित होकर इसे मेरी सौतन बनाने लाये हैं, वरना घर में दासियों की क्या कमी थी? वह चन्दना को अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखने लगी, उसे देखकर निरन्तर उसका कलेजा जलने लगा, वह डायन की तरह उसे डसने की सोचने लगी। वह योग्य अवसर की तलाश करने लगी, परन्तु सेठजी का उसके

प्रति असीम स्नेह देखकर वह कुछ नहीं कर सकी और अन्दर ही अन्दर कुढ़ती रही।

एक दिन सेठजी बाहर से कुछ थककर आये तो सेठानी कहीं बाहर गयी थी और कोई नौकर-चाकर भी घर पर नहीं था। तब हमेशा की भाँति चन्दना पानी लाकर पिताजी के पैर धोने लगी। तभी उसके सुहाने बाल बिखरकर जमीन पर धूल में लिपट गये तो सेठजी ने वात्सल्य से पुत्री के बाल हाथ से उठाकर ऊपर कर दिये। उसी समय सेठानी सुभद्रा वहाँ आ पहुँची और यह देखकर उसके हृदय में आग लग गयी, क्रोध से उसकी आँखें जलने लगी; उसका भ्रम मजबूत हो गया कि मेरी अनुपस्थिति में सेठजी इससे प्यार करते हैं। उसके सन्देह का भूत पराकाष्ठा पर पहुँच गया। द्वेष की आग सीमा पार कर गयी। वह विचारने लगी - किसी भी तरह इस सर्पिणी को घर से निकालना है। जब तक यह काँटा नहीं निकलेगा, तब तक मुझे चैन नहीं पड़ेगा।

रे देव! तेरे भण्डार में भी क्या-क्या भरा है! अपने किये कर्म का फल भोगे बिना, कहीं छूटकारा नहीं है। कर्म करते समय जीव पीछे नहीं हटता, किन्तु उदय आने पर रोता है।

'अपने द्वारा किये हुए शुभाशुभकर्मों का फल जीव को न मिले तो ब्रह्माण्ड शून्य हो जाए। अशुभकर्म का फल न मिले तो नरकगति शून्य हो जाए; शुभकर्म का फल न मिले तो देवगति शून्य हो जाए और यदि शुद्धोपयोग का फल न मिले तो सिद्धगति शून्य हो जाए। ज्ञानी जीव, नवीन कर्म

करते नहीं और उदयागत कर्म से घबराते नहीं। कर्म के अनेकों थपेड़े लगने पर भी ज्ञानी जीव, अपने ध्रुव चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन एक पल भी नहीं छोड़ते।'

★ ★ ★

एक दिन सेठ वृषभदत्त किसी कार्यवश अन्यत्र चले गये, तब सेठानी ने अनुकूल अवसर देखकर अपना कार्य सिद्ध करने की ठान ली। उसने चन्दना को एकान्त में ले जाकर उसके बाल मुँडवा दिये। हाय! रूपवती राजकुमारी को विडरूप कर दिया। इतने पर भी उसकी डाह शान्त न हुई तो उसके हाथ-पैर में बेडियाँ डालकर भयानक कोठरी में उसे बन्द कर दिया और अनेक दुर्वचन सुनाये। उसका सम्पूर्ण खाना-पीना भी बन्द कर दिया, तब जाकर सेठानी को कुछ चैन पड़ी।

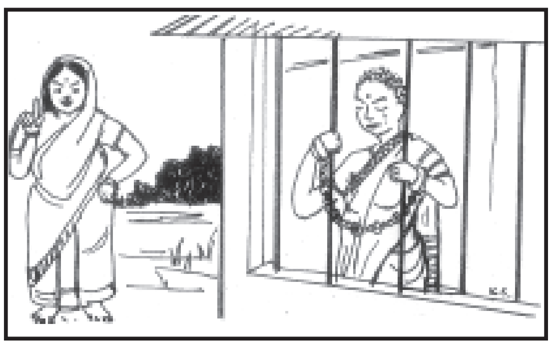

अरे रे! सौतन की डाह ने क्या अनर्थ कर दिया? रे विचित्र संसार! निर्दोष चन्दना पर भी यह अत्याचार!!

अहो! ऐसी विषम परिस्थिति में भी चन्दना का धर्म नहीं छूटा। उसने संयोग से चित्त हटाकर स्वभाव में जोड़ दिया और त्रिकाल मुक्त शुद्धात्मा की धुन में देह-बन्धन और भोजन-पानी की सुध भी भूल गयी। वह आत्मा की देहातीत निर्बन्धदशा का विचार करने लगी।

अहो! ज्ञानियों को बन्धन कहाँ? देह, देह में; बन्धन, बन्धन में और भगवान आत्मा, भगवान आत्मा में ही निवास करता है। धन्य है ज्ञानियों की अन्तरङ्ग दशा।

एक दिवस हुआ... दो दिवस हुए... तीन दिवस बीत गये पर सेठजी नहीं आये और चन्दना को भी न भोजन, न पानी,... अहो! उसके तो निरन्तर परमानन्द का ही भोजन था। चौथे दिन जब सेठजी आये तो घर का वातावरण एकदम सुनसान था, मानो कोई मर गया हो, उन्हें कुछ अजीब-सा लगा। 'चन्दना... बेटी चन्दना...!' पर चन्दना कहाँ? वह तो कर्म की बेडियों में जकड़ी कालकोठरी में कैद थी। चन्दना को कहीं न पाकर सेठजी चिन्तित हो गये, कहाँ गयी चन्दना? वह बिना पूछे तो कहीं जाती नहीं।

तब उन्होंने सेठानी सुभद्रा से पूछा – 'सुभद्रा....! चन्दना बेटी कहाँ है?'

'मुझे नहीं मालूम, तुम्हारी लड़की का' – सेठानी कटाक्ष करती हुई बोली।

तब सेठजी दास-दासियों की ओर देखकर बोले – 'तुम सब उदास क्यों हो? बोलते क्यों नहीं? कहाँ है चन्दना?'

पर... सब मौन....

अन्त में उन्होंने गद्गद् होकर एक वृद्ध दासी से पूछा – 'चन्दना कहा है?'

उसने भी कोई उत्तर न दिया, पर उसकी आँखें भर आयीं, वह एक दीर्घ नि:श्वास लेकर कोठरी की तरफ नजर करके चली गयी।

सेठजी भी समझ गये कि अवश्य ही कोई गम्भीर घटना घट गयी है। कोठरी में जाकर देखा तो अवाक् रह गये। आँखों में अन्धेरा छा गया। मानों कोई दुःस्वप्न देख रहे हों... मुण्डा हुआ सिर... हाथ-पैर में बेड़ियाँ.... शरीर सूखकर विडरूप हो गया... सहसा उनके मुख से चीख निकल पड़ी –

'चन्दना बेटी! बेटी चन्दना!! बोलती क्यों नहीं? किसने किया तेरा यह हाल!' – उसकी दयनीय दशा देखकर सेठजी रो पड़े।

चन्दना बोले बिना ही स्नेह भरे अश्रुपूर्ण नेत्रों से स्तब्धपने अपने धर्मपिता की ओर देखती रही। सेठजी ने तुरन्त दरवाजा खोला और शीघ्र ही बेड़ियाँ तोड़ने लोहार को बुलाने चल पड़े... जाते-जाते उपवास के पारने के लिए उसे उबली हुई उड़द और उबला हुआ पानी भी देते गये।

★ ★ ★

भावना, संसार और मोक्ष की आधारशिला है। आत्मभावना भाता हुआ जीव, निर्वाण प्राप्त कर लेता है। भावना के अनुकूल फल आये बिना नहीं रहता। 'भावना भवनाशिनी है।'

चन्दना, भावना भा रही थी कि कोई मुनिराज आहार के लिये आवें तो पहले उन्हें आहारदान देकर पश्चात् स्वयं पारणा करूँ परन्तु मुझ अभागिन को ऐसा सौभाग्य कहाँ? – ऐसा विचारते -विचारते उसकी आँखों से आँसू टपकने लगे लेकिन भावना भी बलवान होती है, वह होनहार के अनुकूल फलती ही है।

मुनिराज महावीर बार-बार कौशाम्बी में आहार के लिये

आते, पर अभियोग (आकड़ी) पूरे न होते, विधि नहीं मिलती और वापिस चले जाते। अन्त में आज पाँच माह पच्चीस दिन के उपवास के बाद मुनिराज महावीर पुनः कौशाम्बी में आहार के लिये पधारे।

मुनिराज महावीर, वृषभदत्त सेठ के घर की तरफ ही आ रहे हैं – ऐसा देखकर चन्दना का रोम-रोम हर्षानन्द से पुलकित हो गया।

वह भक्ति से ... आश्चर्य से उल्लसित हो उठी। पधारो... पधारो... प्रभु! मेरे आँगन में पधारो! मुनिराज को अपनी ओर आता देखकर चन्दना रोमाञ्चित हो गयी। वह अपना सब दुःख भूलकर प्रभु का सत्कार करने प्रमुदित होकर आगे बढ़ी।

आश्चर्य! महा आश्चर्य!! बन्धन स्वयमेव टूट गये... रूप सौन्दर्य जगमगा उठा, सारा वातावरण ही एकदम पलट गया।

वह टकटकी लगाकर मुनिराज की ओर निहार रही थी, उसका ध्यान बन्धन टूटने की ओर भी नहीं गया और हर्ष विभोर हो मुनिराज का नवधा-भक्तिपूर्वक पड़गाहन करने द्वार पर पहुँच गयी। अहो! पधारो... पधारो... प्रभु पधारो... हे नाथ! मुझे कृतकृत्य करो।

तीर्थङ्कर मुनिराज के भी मानो सभी अभिग्रह आज पूर्ण हो गये, वे आकर चन्दना के द्वार पर ठहर गये। चन्दना के आनन्द का पार न रहा। उसने शीघ्र पड़गाहन कर लिया और उबली हुई उड़द से ही मुनिराज को पारणा कराने लगी। अहो! धन्य दाता! धन्य पात्र!! दाता और पात्र के उत्कृष्ट पुण्ययोग से आहार सरस

खीररूप परिणमित हो गया। इस मङ्गल प्रसङ्ग को देखकर देवगण भी आकाश से जय-जयकार करते हुए रत्नवृष्टि करने लगे, दुन्दुभी बाजे बजने लगे, चारों ओर महान हर्षानन्द का मङ्गल वातावरण छा गया।

मुनिराज के आहारदान के प्रसङ्ग का समाचार सुनकर सम्पूर्ण नगर का जनसमूह सेठ वृषभदत्त के घर की ओर उमड़ पड़ा; जय-जयकार से सारा वातावरण गुञ्जायमान हो गया।

यहाँ बेचारे सेठजी लोहार को साथ लिये शीघ्रता से घर की ओर आ रहे थे। रास्ते में कोलाहल और हर्ष से लोगों को भागते हुए देखकर सेठजी ने पूछा - 'आप लोग प्रसन्नता से कहाँ भागे जा रहे हैं?'

तब लोगों ने सेठजी को देखकर आश्चर्य से कहा - 'अरे सेठजी! तुम्हारे भाग्य खुल गये... तुम्हारे घर चन्दना के हाथों मुनिराज महावीर का पारणा हुआ है... धन्य भाग्य तुम्हारे!'

- यह सुनकर सेठ के हर्ष का पार न रहा। क्या हुआ? कैसे हुआ? चन्दना के बन्धन कैसे खुले? उसने प्रभु का पारणा कैसे कराया होगा? - यही विचार-मन्थन करते हुए सेठजी घर की ओर चल दिये।

घर पहुँचते ही सेठजी ने देखा कि वहाँ तो सम्पूर्ण वातावरण ही बदल गया है। सर्वत्र आनन्द छा रहा है। चन्दना का रूप पहले से भी अधिक सुन्दर लग रहा है। धन्य भाग्य!

'बेटी चन्दना तुम धन्य हो! तुमने तो इस घर को पवित्र कर दिया! तुम्हारे कारण इस कौशाम्बी का कलङ्क आज मिट गया, जो प्रभु के आहार न होने से हो रहा था। बेटी, तू साक्षात् देवी है!... जगत् पूज्य माता है!... अरे रे! हमने आज तक तुझे न जान पाया... क्षमा कर बेटी, हमारे अपराध को क्षमा कर!'

चन्दना सरलभाव से बोली - 'पिताजी! भूल जाओ सब बातों को, आपने तो मुझ पर महान उपकार किया है। आपने ही मेरे शीलधर्म की रक्षा की है। आप मुझे सङ्कट में शरण न देते तो वहाँ मेरा कौन सहारा था? धन्य हैं आप!'

यह अद्भुत बनाव देखकर सेठानी सुभद्रा तो दिग्विमूढ़ हो गयी, उसका अभिमान चूर-चूर हो गया; वह शर्म से पानी-पानी हो गयी... अपने खोटे कर्म का अनेक प्रकार से पश्चाताप करने लगी... चन्दना के पैरों पड़कर क्षमा माँगने लगी।

'बेटी! मुझ पापिन को क्षमा कर दे... मैंने तुझे बहुत दुःख दिया है। मैंने तुझ शीलवती का अपमान किया है, क्षमा कर... मेरे अपराध को क्षमा कर...!!'

चन्दना उसके हाथ पकड़कर बोली – 'माता! भूल जाओ सब, मेरे ही कर्मोदय से यह सब घटित हुआ है, आपका इसमें कोई दोष नहीं है। अहो! प्रभु का अभिग्रह (आकड़ी या विधि) पूरा होने के लिए यह सब बनाव बना था। प्रभु के मङ्गल पदार्पण से आज हम सब धन्य हो गये... कृतकृत्य हो गये।'

महारानी मृगावती भी उक्त समाचार सुनकर हर्षित होकर सेठ के घर आयी और वहाँ चन्दना को देखकर अचम्भित रह गयी – 'अरे चन्दना! तू यहाँ कहाँ?'

– यह कहकर रानी ने तुरन्त बहिन चन्दना को गले से लगा लिया। अहो! कैसा अद्भुत आनन्दकारी था यह प्रसङ्ग! अहा, धन्य काल! पुण्ययोग होने पर सभी अनुकूल संयोग चन्दना को मिल गये। चेलना और बहिन त्रिशला ने जब यह समाचार सुना तो उनका शोक भी हर्ष में बदल गया। क्षण में समस्त वातावरण मङ्गलमय हो गया।

पश्चात् अपने धर्मपिता से ससम्मान आज्ञा माँगकर चन्दना अपनी बड़ी बहिन मृगावती के साथ राजमहल की ओर चल दी।

अहो! शील का प्रभाव अप्रतिम है!!

● *– पण्डित राजकुमार शास्त्री*

10

विराधक बना आराधक

एक बार विपुलाचल पर्वत पर भगवान महावीर प्रभु का समवसरण आया, उसमें महावीर प्रभु गणधरों के साथ विराजमान थे। यह समाचार भगवान महावीर के मौसा राजा श्रेणिक को प्राप्त होते ही वे तुरन्त समवसरण में गये और भगवान महावीर को नमस्कार-स्तुति आदि करके वासूपूज्य भगवान के गणधर अमृताश्रव का (अशोक का) चरित्र जानने की अभिलाषा व्यक्त की और उत्सुकतापूर्वक भगवान का उत्तर सुनने लगे।

भगवान कहते हैं कि – हे राजन्! इस देश में हस्तिनापुर नाम का सुन्दर नगर है। उसमें बीतशोक नाम का महागुणवान राजा राज्य करता था। उसकी विद्युतप्रभा नाम की सुन्दर और गुणवान रानी थी। इन दोनों के अशोक नामक गुणवान पुत्र था।

उसी समय चम्पा नाम की एक नगरी थी। उसके राजा का नाम मधवा था। उसकी श्रीमती नाम की रानी थी। उनके आठ पुत्र और एक पुत्री थी। पुत्री का नाम रोहिणी था। रोहिणी गुणवान और रूपवती युवती थी। एक बार वह अष्टाह्निका

पर्व में उपवास करके, उत्साह से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करके, जिनधर्मी साधुओं को नमस्कार करके सभाभवन में बैठे हुए माता-पिता आदि के समीप आई। पिता ने स्नेहवश पुत्री रोहिणी को गोद में बिठाया। पिता, पुत्री को युवा हुई देखकर विचारने लगा कि 'इस रूपवान कन्या को इसी के समान रूपवान किस वर को प्रदान करूँ?'

राजा ने अपने मन्त्रियों को बुलाया और जब कन्या के लिए वर खोजने के विषय में चर्चा की, तब मन्त्री ने कहा - 'हे राजन! इस सुन्दर कन्या को इसके योग्य वर शोधने के लिए स्वयंवर मण्डप का अयोजन करके कन्या की पसन्द के योग्य वर से उसका विवाह करना उचित होगा।' यह बात राजा को रुचिकर प्रतीत हुई; अत: देश-विदेश के राजकुमारों को आमन्त्रण भेजे गये। अनेक राजकुमार चम्पानगरी में आ पहुँचे। उनके लिए उचित आसन और खान-पान की व्यवस्था की गयी, साथ ही मणिमय सिंहासन संग्रहीत कर सभामण्डप तैयार किया गया।

सभी राजकुमार सभामण्डप में आकर अपने-अपने आसन स्थान पर विराजमान हो गये। रोहिणी भी बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित होकर अपनी दासियोंसहित सभामण्डप में आ पहुँची। रोहिणी का रूप देखते ही, 'मानो साक्षात् इन्द्राणी हो' - ऐसा लगने से समस्त राजकुमार उसे उत्सुकता से टकटकी लगाकर देख रहे थे। दासी एक-एक राजकुमार का परिचय देती हुई आगे बढ़ती जा रही थी किन्तु रोहिणी का

मन किसी राजकुमार पर नहीं ठहरता था। आगे बढ़ती हुए दासी ने कहा -

'हे स्वामिनी! यह बीतशोक राजा का पुत्र अशोक है, जो समस्त गुणों का सागर है। इसका रूप सहज ही कामदेव को पराजित करनेवाला है, मानो किसी देव अथवा विद्याधर जैसा रूप है।' रोहिणी ने कुमार अशोक के रूप-गुण से प्रभावित होकर तुरन्त ही अशोककुमार को वरमाला पहना दी।

रोहिणी के पिता ने अशोककुमार के साथ उसका विवाह निश्चित कर दिया और अशोककुमार ने जिनेन्द्र भगवान की महामह पूजा करके, मङ्गल मुहूर्त में राजकुमारी के साथ विवाह किया। तत्पश्चात् कितने ही समय तक अपने श्वसुर के यहाँ ही रहे।

कुछ समय पश्चात् अशोक-रोहिणी ने अपने हस्तिनापुर नगर में आकर माता-पिता आदि परिवारजनों को प्रणाम किया। एक दिन पिता बीतशोक को उल्कापात देखकर वैराग्य भावना जागृत हुई। उन्होंने पुत्र अशोक को राजगद्दी पर बैठाकर जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली और उग्र तप करके कर्म नाश कर मुक्तावस्था को प्राप्त किया। पिता के दीक्षित होने पर अशोककुमार को हुआ शोक कुछ दिनों में दूर हुआ और उसने भले प्रकार राज्यभार सम्भाल लिया।

★ ★ ★

कालान्तर में रोहिणी के सुन्दर आठ पुत्र और चार पुत्रियाँ हुई। उनमें से सबसे छोटे पुत्र का नाम लोकपाल था। एक

बार अशोक-रोहिणी अपने समस्त पुत्र-पुत्रियों के साथ राजमहल की छत पर बैठे हुए, मीठी-मीठी आनन्दकारी बातें कर रहे थे। इतने में रोहिणी ने नीचे गली में देखा कि अनेक स्त्रियाँ बालों को बिखेरकर घेरा बनाकर छाती कूटती हुई रुदन कर रही थी, आक्रन्द कर रही थी। यह देखकर रोहिणी को आश्चर्य हुआ कि यह किस प्रकार का नाटक-गान-तान है? मुझे तो बहत्तर कलाओं का ज्ञान है परन्तु उनमें तो मैंने ऐसा नाटक-गान-तान देखा नहीं है; इस कारण उसने विस्मयतापूर्वक दासी से पूछा - 'हे भद्रे! यह किस प्रकार का नाटक अथवा गान-तान है?'

दासी ने रोहिणी का भोलापन देखकर कहा - 'पुत्री! यह नाटक अथवा गान-तान नहीं, परन्तु कुछ दुःखी जीव, दुःख और शोक मना रहे हैं।'

रोहिणी फिर पूछती है - 'दुःख और शोक क्या वस्तु है?'

रोहिणी का ऐसा प्रश्न सुनकर गुस्से में आकर दासी बोली - 'हे सुन्दरी! तुझे उन्माद हुआ है। सत्य है पाण्डित्य और ऐश्वर्य ऐसा ही होता है। अरे! क्या तुझे लोकातिशयी सौभाग्य है कि तू दुःख और शोक क्या है - यह भी नहीं जानती और स्वर व भाषा को अलंकृत कर नाटक-नाटक बक रही है। क्या तुम इसी क्षण इस धरती पर जन्म ले रही हो?'

दासी बसन्ततिलका की क्रोधपूर्ण बात सुनकर रोहिणी कहने लगी - 'हे भद्रे! तू मुझ पर क्रोध न कर, मेरे लिए आज भी यह प्रसङ्ग अदृष्ट और अश्रुत है; इसी कारण मैंने

आपसे प्रश्न किया है, इसमें अहङ्कार की कोई बात नहीं है।'

तब दासी कहती है - 'हे वत्स! यह नाटक, प्रयोग अथवा सङ्गीत स्वर नहीं है परन्तु इष्ट बन्धु की मृत्यु से रोनेवाले को जो दुःख होता है, उसे शोक कहते हैं।'

रोहिणी फिर से पूछती है - 'हे भद्रे! मैं रुदन का अर्थ भी नहीं जानती; अतः रुदन का क्या अर्थ है, यह बता।'

रोहिणी का यह प्रश्न पूरा होते ही राजा अशोक ने कहा कि 'शोक से जो रुदन होता है, उसका अर्थ मैं तुझे बताता हूँ' - ऐसा कहकर उसने छोटे लोकपालकुमर को रोहिणी के हाथ से खींचकर छत से नीचे डाला, तब रोहिणी को बहुत ही दुःख और शोक हुआ। कुमार लोकपाल को तो देवियों ने आकर फूल की तरह झेल लिया और अभिषेक आदि से लोकपाल का सम्मान करके देवियाँ चली गयीं।

★ ★ ★

एक बार हस्तिनापुर में रूपकुमम और स्वर्णकुमम नामक दो चारण ऋद्धिधारी मुनियों का शुभागमन हुआ। मुनियों के आगमन से अत्यन्त हर्षित वनपाल ने राजा को यह शुभ समाचार दिये। समाचार सुनकर राजा अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने परिवारसहित वन में जाकर भक्तिपूर्वक मुनिराज की वन्दना की। तत्पश्चात् अवधिज्ञानी रूपकुमम मुनिराज से विनयपूर्वक प्रश्न किया - 'हे महाराज! मैंने और मेरी रानी रोहिणी ने पूर्व भव में प्राणियों पर दया करनेवाले किस प्रकार के उत्तम धर्म का सेवन किया था, वह कृपा करके बतलाओ।'

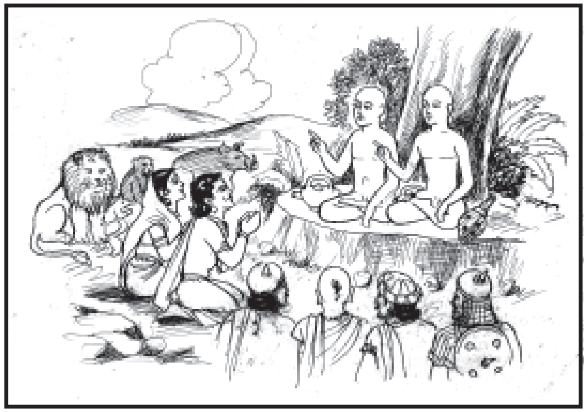

उत्तर स्वरूप मुनिराज ने कहा 'हे भव्य! इस हस्तिनापुर में पहले वसूपाल नाम का राजा था, उसकी रानी का नाम वसूमति था, उसका भाई धनमित्र था जो कि राजसेठ था, उसके पूतिगन्धा नामक एक कन्या थी। पूतिगन्धा के शरीर में से मरे हुए कोढ़ी कुत्ते के शरीर की दुर्गन्ध जैसी भीषण दुर्गन्ध निकलती थी, इस कारण आकाश भी दुर्गन्धमय हो जाता था।

उसी नगर में एक वसुमित्र नाम का धनवान सेठ रहता था। उसकी पत्नी का नाम वसुमति था। उन दोनों के श्रीषेण नाम का पुत्र था, वह सप्त व्यसनी, महापापी था। एक बार उसको चोरी करते हुए कोतवाल ने पकड़ लिया और मजबूत साँकल में बाँधकर नगर में घूमा रहा था। उसी समय पूतिगन्धा के पिता ने श्रीषेण से कहा कि – 'यदि तुम मेरी पुत्री के साथ विवाह करो तो मैं तुम्हें इन बन्धन से छुड़ा दूँगा।'

मार के भय से त्रसित श्रीषेण ने कहा – 'हे मामा! यदि तुम मुझे छुड़ाओगे तो मैं तुम्हारी पुत्री के साथ विवाह करूँगा।'

पूतिगन्धा के पिता ने राजा से प्रार्थना करके श्रीषेण को बन्धनमुक्त करा दिया और पुतिगन्धा से उसका विवाह कर

दिया। विवाहोपरान्त पुतिगन्धा की उसकी दुर्गन्ध के कारण वह एक रात्रि भी उसके साथ नहीं रह सका; इस कारण प्रातःकाल होते ही उसे छोड़कर चल दिया। इस घटना से व्यथित हुई पुतिगन्धा दीन-हीन होकर पिता के घर में अपने दिन व्यतीत करने लगी।

एक समय पिहितास्रव नामक चारण ऋद्धिधारक मुनिराज संघसहित नगरी में पधारे। उनके आगमन के समाचार मिलते ही राजा आदि सब मुनि-वन्दना करने के लिए वन में गये। उनके साथ पूतिगन्धा भी अपने माता-पिता के साथ मुनि वन्दना के लिए गयी। पुतिगन्धा ने मुनिराज की वन्दना करके उपदेश सुनने के पश्चात् विनय से प्रश्न किया – 'हे प्रभु! मुझे अपने पूर्व भव की बात बताओ, जिसके कारण में पूतिगन्धा होकर महान दुःख भोग रही हूँ।'

मुनिराज महान वैराग्य को उत्पन्न करनेवाली पुतिगन्धा के पूर्व भव की बात बताते हुए कहने लगे – 'हे पुत्री! मैं तुझे दुर्गन्धमयी शरीर की प्राप्ति का कारण बताता हूँ, तू उसे ध्यान देकर सुन!

★ ★ ★

भरतक्षेत्र में सौराष्ट्र नाम के देश में गिरनार नाम का एक नगर था। उसके राजा का नाम भूपाल था और वह विशुद्ध सम्यग्दृष्टि था। उस राजा के राज्य में एक गङ्गदत्त नाम का सेठ था, उसकी पत्नी का नाम सिन्धुमति था। सिन्धुमति को अपने रूप-यौवन-विलास आदि का बहुत गर्व था।

एक बार अनेक महिनों के उपवासी समाधिगुप्त मुनिराज पारणा के लिए निकले थे। उस समय राजा के साथ वन में जा रहे गङ्गदत्त सेठ ने मुनि को अपने घर की तरफ आते देखकर अपनी पत्नी से कहा – 'हे प्रिये! मुनिराज आहार के लिये पधार रहे हैं, तुम उन्हें विधिपूर्वक आहार देने के बाद वन में आ जाना।'

पति के कहने से सिन्धुमति वापिस तो लौट गयी, परन्तु उसे मन ही मन बहुत ही क्रोध आ गया। वह मुनिराज का पड़गाहन करके अपने घर में गयी और भैंस के लिए बनाये हुए खूब मीठा आदि डाले हुए खाने के साथ कड़वी तुम्बी मिलाकर देने को तैयार हुई। उसकी दासी द्वारा बहुत रोके जाने पर भी उसने क्रोध से मुनिराज को वह आहार दिया। मुनिराज ने हमेशा के लिए आहार का प्रत्याख्यान लेकर, समाधिमरणपूर्वक आराधनाओं का आराधन करके देवपर्याय को धारण किया।

जब राजा वन में से वापस आये और उन्हें ज्ञात हुआ कि गङ्गदत्त की पत्नी सिन्धुमति ने कड़वी तुम्बी का आहार देकर मुनिराज की हत्या की है तो उन्होंने क्रोधित होकर सिन्धुमति का सिर मुण्डवाकर गधे पर बैठाकर उस दुराचारिणी को मारते-मारते समस्त नगरजनों को दिखाने के लिए नगर में घुमाया। तत्पश्चात् पापोदय से सिन्धुमति को उदम्बर कोढ़ हो गया और सातवें दिन वह मरकर छठवें नरक में बाईस सागर की आयुष्य की धारक नारकी हुई। तत्पश्चात् सिंहनी

होकर सातों नरकों में परिभ्रमण किया। वहाँ से निकलकर दो बार तिर्यञ्चगति में कुत्ती हुई, सूकरी हुई, सियालनी हुई, चुहिया हुई, हथिनी हुई, गधी हुई और फिर वैश्या होकर, इस भव में दु:खों से परिपूर्ण दुर्गन्ध शरीरवाली और परिवारजनों से निन्दनीय तू पूतिगन्धा हुई है।'

मुनिराज के मुख से पूर्व भव की कथा सुनकर पूतिगन्धा का मन संसार में अतिविरक्त हो गया और उसने मुनिराज से पूछा – 'भगवान! आप कृपा करके बताओ कि मैं पूर्व में किये हुए पापकर्मों से किस पुण्य कार्य से छूटूँगी?'

पूतिगन्धा की विनती सुनकर करुणासागर मुनिराज ने कहा – 'बेटा! यदि तू वास्तव में संसार के दु:खों से छूटना चाहती हो और सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के प्रति प्रीति चाहती हो तो रोहिणी नक्षण में उपवास कर! इससे तू फिर से दु:खों को प्राप्त नहीं करेगी।'

तत्पश्चात् मुनिराज ने उसे रोहिणी नक्षण में उपवास की विधि बताई, तद्नुसार स्वीकार करते हुए भक्तिरस से प्रसन्न होती पूतिगन्धा की आँखों में आँसू आ गये।

पुतिगन्धा ने पुनः पूछा – 'भगवान! मेरी ही तरह अन्य किसी ने रोहिणी व्रत का अनुष्ठान किया हो तो कृपा करके

कहो।' उत्तर में मुनिराज ने कहा – 'हे पुत्री! समस्त दुःखों को दूर करनेवाले इस व्रत का विधान पूतिगन्धकुमार ने बहुत ही उत्साह से पालन किया है, उसकी कथा इस प्रकार है –

★★★

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में शटकपुर नाम के देश में सिंहपुर नागर में सिंहसेन राजा के पुत्र पूतिगन्धकुमार को तेरी तरह ही शरीर में बहुत दुर्गन्ध निकलती थी।

एक बार विमलवाहन मुनिराज को केवलज्ञान प्रगट होने पर देवतागण आकाशमार्ग के केवलज्ञान कल्याणक का उत्सव मनाने जा रहे थे। उस समय पुतिगन्धकुमार राजभवन के शिखर पर बैठे थे। उन्होंने प्रभा से शोभित देवकुमारों को जाते देखा और देखते ही मूर्च्छित हो गये। जब चन्दन आदि शीतोपचार करने से उनकी मूर्च्छा दूर हुई तो उन्हें तुरन्त ही जातिस्मरण हो गया और वे अपने पिता के साथ केवली भगवान के दर्शन करने गये।

दोनों पिता-पुत्र केवली भगवान का भक्ति से दर्शन-पूजनादि करके उपदेश सुनने बैठ गये। उपदेश पूर्ण होने पर सिंहसेन महाराज ने भक्तिपूर्वक जिनराज से मनोगत बात पूछी – 'हे प्रभो! मेरा पुत्र किस कारण पूतिगन्ध

हुआ और मूर्च्छित होकर सचेत होकर यहाँ आया; यह सब वृतान्त कृपा करके कहो?'

राजा के प्रश्न के उत्तर में जिनराज ने कहा – 'हे राजन्! तेरे पुत्र ने पूर्व भव में मुनिराज की हत्या की थी, उस पापोदय के कारण यह अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए तुम्हारे यहाँ पूतिगन्ध हुआ है और आकाश में जाते हुए देवकुमारों को देखकर इसे जातिस्मरणज्ञान होने से नरक की वेदना का स्मरण होने पर अत्यन्त भयभीत होकर मूर्च्छित हुआ था।

सिंहसेन राजा ने जिनराज से पूछा – 'हे देव! पूर्व भव में पूतिगन्ध ने किस कारण से मुनिराज की हत्या की थी?'

उत्तर में जिनराज ने कहा – 'विन्ध्याचल पर्वत पर दिव्य अशोकवन है। उसमें दो मदोन्मत्त हाथी रहते थे। एक बार वे दोनों हाथी उसी प्रदेश की विशाल नदी में गये और जल के लिए परस्पर लड़ पड़े। वे इतने जोर से लड़े कि लड़ते-लड़ते मर गये। मरकर एक बिलाव हुआ दूसरा चूहा; दूसरी बार एक भयङ्कर सर्प हुआ और दूसरा नेवला; तत्पश्चात् बाज और बगुला और फिर दोनों कबूतर हुए।

कनकपुर नगर में सोमभ्रम राजा था, उसके नाम का पुरोहित सोमभूति था। वे दोनों कबूतर मरकर सोमभूति के यहाँ पुत्र हुए। उनमें से एक का नाम सोमशर्मा और दूसरे का नाम सोमदत्त था। वे विद्याभ्यास करके विज्ञान में पारङ्गत हुए। पिता सोमभूति की मृत्यु होने पर छोटे भाई सोमदत्त को पुरोहित पद मिला। जो बड़ा भाई सोमशर्मा था, उसने छोटे भाई

सोमदत्त की स्त्री लक्ष्मीमति के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित किया था। उससे सोमशर्मा की भोली पत्नी दीपा सोमदत्त को बारम्बार कहती थी कि तुम्हारी दुराचारिणी स्त्री के साथ मेरे पति का अनुचित सम्बन्ध है। यह जानकर सोमदत्त को अत्यन्त वैराग्य हुआ और उसने धर्मसेन मुनिराज के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार कर ली।

जब राजा को सोमदत्त के दीक्षा ले लेने के समाचार ज्ञात हुए तो उसने उसके बड़े भाई सोमशर्मा को पुरोहित का पद दे दिया।

शकटदेश के वसुपाल राजा के यहाँ एक सुन्दर हाथी था। सोमप्रभ राजा ने दूत को भेजकर उस हाथी की माँग की किन्तु राजा वसुपाल ने उसे देने से इन्कार कर दिया; इस कारण क्रोधित होकर सोमप्रभ राजा ने राजा वसुपाल पर चढ़ाई कर दी।

सन्ध्या के समय राजा की सेना ने वन में पड़ाव डाला। पुरोहित सोमशर्मा की नजर वहाँ ध्यानस्थ मुनिराज सोमदत्त पर पड़ी। मुनिराज को देखते ही सोमशर्मा क्रोध में लाल-पीला हो गया और उसने सोमप्रभ राजा से कहा – 'हे राजन्! हम बलवान राजा पर चढ़ाई करने निकले हैं किन्तु इन नग्न मुनि के दर्शन से अपशकुन हुआ है; इस कारण हमें इस मुनि को मारकर इसका खून दशों दिशाओं में अर्पण करके शान्ति विधान करना चाहिए।'

पुरोहित के हिंसामय वचन सुनकर राजा ने कान बन्द कर लिये। तब एक निमित्तज्ञ विश्वदेव ब्राह्मण ने राजा से कहा

– 'राजन्! सोमशर्मा को शकुन-अपशकुन का कुछ भी ज्ञान नहीं है। अरे! यह मुनिराज तो समस्त प्राणियों का हित करनेवाले हैं, इनके दर्शन से तो अपना इच्छित कार्य तुरन्त पूर्ण हो जाए – ऐसे शकुन हुए हैं।' इस सन्दर्भ में उसने अनेक शास्त्राधार और युक्तियाँ देकर अपनी बात की पुष्टि करते हुए कहा – 'राजन! इन मुनिराज के महान शकुन होने से तो वसुपाल राजा स्वयं हाथी देने के लिए यहाँ आना चाहिए – ऐसा यह महान शकुन है।'

प्रभात होते ही वसुपाल राजा ने सोमप्रभ राजा को हाथी भेंट करके सम्मान किया और प्रसन्न होकर राजा ने वापिस अपने नगर की तरफ प्रस्थान कर दिया।

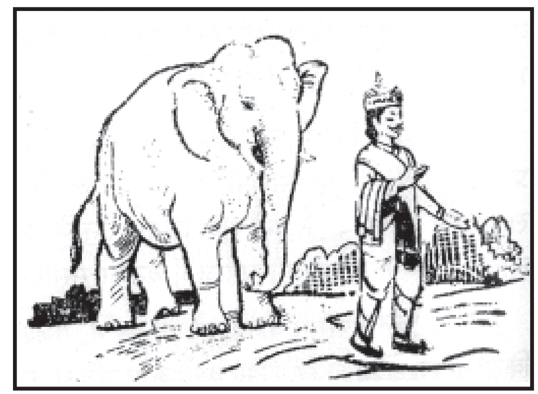

पुरोहित सोमशर्मा ने पूर्व के वैर के कारण ध्यानाविष्ट मुनिराज की तलवार से हत्या कर दी। प्रात:काल जब महाराज सोमप्रभ को ज्ञात हुआ कि सोमशर्मा ने मुनिराज की हत्या की है तो इस दुष्कृत्य से कुपित होकर राजा ने सोमशर्मा को मुनिहिंसा के कारण पाँच प्रकार दण्ड दिया और दुष्ट बुद्धि सोमशर्मा को मुनिहिंसा के पाप से गलित कोढ़ निकल आया, वह सात दिन तक भयानक पीड़ा भोगते हुए मरकर तुरन्त ही सातवें नरक पहुँच गया।

वह महादु:ख भोगकर नरक से निकलकर एक हजार योजन का मच्छ हुआ। वहाँ अनेक प्रकार की पीड़ा सहन करके मरकर छठवें नरक गया। वहाँ बाईस सागर तक महान दु:ख भोगकर, वहाँ से निकलकर भयानक सिंह हुआ और वहाँ की आयु पूर्व करके पाँचवें नरक गया। वहाँ भी असहनीय दु:ख भोगकर बाघ हुआ वहाँ से मरकर तीसरे नरक का नारकी हुआ। वहाँ से निकलकर दुष्ट विकराल पक्षी हुआ और वहाँ से मरकर दूसरे नरक का नारकी हुआ। वहाँ भी दु:ख भोगकर सफेद बगुला हुआ, वहाँ भी पाप करके पहले नरक गया। हे राजन्! वहाँ एक सागर पर्यन्त दु:ख भोगकर वहाँ से निकलकर तुम्हारे यहाँ पूतिगन्धकुमार हुआ है।'

इस प्रकार पूर्वभव के पापों की बात सुनकर विनय-भक्तिपूर्वक पूतिगन्ध कहने लगा – 'हे जिनराज! पूर्व में किये हुए पापों का नाश किस प्रकार हो सकता है?'

जिनराज ने कहा – 'हे कुमार! यदि तू दु:खों से छूटना चाहता है तो रोहिणी नक्षत्र में उपवास का विधान कर।'

इस प्रकार जिनराज के उपदेश से पूतिगन्धकुमार ने सम्यक्त्व प्राप्त करके रोहिणी व्रत धारण किया ओर धर्म का पालन करते-करते मात्र एक माह ही हुआ था कि उसे अत्यन्त विरक्ति होने से अपने विजय नाम के पुत्र को राजगद्दी पर बैठाकर जिनदीक्षा लेकर चार प्रकार की आराधना करके सल्लेखनामरण प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग में बाईस सागर की स्थितिवाला ऋद्धिधारी देव हुआ। बाईस सागर तक स्वर्ग में

विपुल भोग-भोगकर वहाँ ये चयकर विदेहक्षेत्र में पुष्पकलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी में विमलकीर्ति राजा का अर्ककीर्ति नाम का पुत्र हुआ।

अर्ककीर्ति अत्यन्त रूपवान, लोगों के मन को हरनेवाला था। अर्ककीर्ति को प्राणों से प्रिय मेघसेन नाम का मित्र था। दोनों मित्र एक साथ ही विद्याभ्यास करके पारङ्गत हुए।

★ ★ ★

एक समय मथुरा में सुमन्दिर नाम के सेठ पुत्र का विवाह सुशीला और सुमति नाम की दो कन्याओं के साथ हो रहा था। उन कन्याओं को राजकुमार अर्ककीर्ति ने देख लिया और उसके द्वारा मित्र मेघसेन को सङ्केत करने पर मेघसेन उन दोनों कन्याओं को उठा लाया, परन्तु मेघसेन को उन कन्याओं को उठाते हुए ग्रामवासियों ने देख लिया; अत: गाँव के लोगों ने मेघसेन से उन कन्याओं को तो छुड़ा लिया और पुण्डरीकिणी नगरी में आकर विमलकीर्ति राजा को यह सारा वृतान्त कह सुनाया। राजा ने क्रोधित होकर राजकुमार और उसके मित्र को देश से निष्कासित कर दिया।

दोनों मित्र वहाँ से निकलकर वीतशोकपुर आये। वहाँ के राजा विमलवाहन की जयमति आदि आठ रूपवान, गुणवान कन्याएँ चन्द्रबेध करनेवाले को विवाही जानी थी। इसके लिए अनेक राजकुमार आये थे, परन्तु किसी से भी चन्द्रबेध नहीं हो सका था। तत्पश्चात् अर्ककीर्ति ने आकर चन्द्र का भेदन किया; इस कारण राजा ने प्रतिज्ञानुसार आठों कन्याओं का

विवाह अर्ककीर्ति के साथ कर दिया। विवाहोपरान्त कितने ही समय अर्ककीर्ति अपने श्वसुर के यहाँ रहा।

एक बार अर्ककीर्ति ने उपवास करके जिनमन्दिर में भगवान की पूजा की और रात्रि में मन्दिर में सो गया। वहाँ सिमलेखा नाम की एक विद्याधरी आई और निद्राधीन कुमार को लेकर विजयार्द्ध पर्वत के ऊपर जिनमन्दिर में छोड़ गयी।

जब अर्ककीर्ति जागृत हुआ तब 'अपने को विजयार्द्ध के जिनमन्दिर में' जानकर वहाँ के मन्दिर में दर्शन करने चला गया। उसके पुण्य-प्रभाव से वहाँ के वज्रमय कपाट खुल गये। उसको पुण्यवन्त जानकर वहाँ के राजसेवक राजा के पास ले गये और राजा ने उसका स्वागत किया और अपनी वीतशोका नाम की प्रिय पुत्री के साथ-साथ अपनी इकतीस कन्याओं का विवाह भी उसके साथ कर दिया। अर्ककीर्तिकुमार ने पाँच वर्ष वहाँ सुखपूर्वक व्यतीत किये।

एक दिन पिता की याद आने पर वह अपने देश के लिए रवाना हुआ। रास्ते में अञ्जनगिरी नाम के नगर में पहुँचा। वहाँ पागल हाथी को वश में करके अपने पराक्रम से वहाँ के राजा की आठ कन्याओं से विवाह किया और अपनी पुण्डरीकिणी नगरी में आ गया।

एक दिन कुमार अर्ककीर्ति ने नटनी का रूप धारण करके पिता की सभा में जाकर लोगों के मन में आश्चर्य उत्पन्न करनेवाला नृत्य किया और तत्पश्चात् अपने पिता राजा

विमलकीर्ति की गायों को घेर लिया। तब राजा ने गायों को छुड़ाने के लिए उससे युद्ध किया। पिता-पुत्र आमन-सामने लड़ने लगे। तब अनेक जीवों का घात होता देखकर कुमार ने अपना नाम लिखित बाण पिता को भेजा। उसे देखकर, पत्र पढ़कर पिता का हृदय आनन्द से भर गया और दोनों पिता -पुत्र एक-दूसरे से अत्यन्त स्नेहपूर्वक मिले, क्षेम-कुशल पूछा और आनन्दपूर्वक राजभवन में गये।

महाराज विमलकीर्ति ने अपने पुत्र के आगमन की प्रसन्नता में इच्छानुसार दान दिया और अपने विजयी प्रिय पुत्र अर्ककीर्ति को राज्यलक्ष्मी समर्पित करके स्वयं श्रीधर मुनिराज के समीप जिनदीक्षा अङ्गीकार करके, कठिन तपश्चर्या करके अन्त में निर्वाण पधारे।

कुमार अर्ककीर्ति भी क्रम-क्रम से चक्रवर्ती की विभूति प्राप्त करके आनन्द से साम्राज्य में रहे। एक दिना संसार की क्षणभङ्गुरता का प्रसङ्ग देखकर अत्यन्त ही वैराग्य होने पर, अपने पुत्र को राज्यभार सौंपकर, जिनदीक्षा लेकर उग्र तपश्चर्यापूर्वक आत्मसाधना करने लगे। अन्त समय में सल्लेखनामरणपूर्वक शरीर का परित्याग कर बाईस सागर की स्थितियुत अच्युत स्वर्ग में देव हुए।

पूतिगन्धा ने भी श्रावकों के व्रत का पालन किया तथा रोहिणी व्रत के पालन से समाधिमरण करके अच्यूत स्वर्ग में पन्द्रह पल्योपम स्थितियुत, पूर्व के अर्ककीर्ति कुमार जो देव हुए थे, उनकी महादेवी हुई और उनके साथ मनोवाञ्छित भोग

भोगे। फिर वहाँ से चयकर उस देव का तो अशोककुमार के रूप में जन्म हुआ और पहले भव की पूतिगन्धा स्वर्ग में से चयकर चम्पानगरी के मधवा राजा की रोहिणी नाम की पुत्री हुई, जो तुम्हारे पास ही बैठी है।

★ ★ ★

राजा अशोक, मुनिराज द्वारा अपने भवान्तरों को सुनकर अपने शुभाशुभपरिणामों व उनके फलों को जानकर संसार से उदास होकर भी दीक्षा न ले सके और रानी रोहिणी भी पूर्व भवों को सुनकर अन्तर में उदास हो गयी, पर राजा अशोक से अतिराग होने के कारण दीक्षा लेने का भाव होने पर भी दीक्षा न ले सकी। अत: वे दोनों मुनिराज को नमस्कार करके तब तो लौटकर हस्तिनापुर आ गये।

एक दिन की बात है कि राजा-रानी सिंहासन पर बैठे थे, इतने में रोहिणी ने अशोक के कान के पास चमकता हुआ सफेद बाल देखा और वह बाल तोड़कर राजा अशोक के हाथ में दिया। सफेद बाल देखकर, अशोक को एकदम वैराग्य जागृत हो गया और वह संसार, शरीर, भोगों की निन्दा करने लगा। उसी समय वनपाल ने आकर राजा से कहा -

'हे राजन्! भगवान वासूपूज्य अपने उद्यान में पधारे हैं।' राजा से यह सुखद समाचार सुनकर सिंहासन से उतरकर भगवान की दिशा में नमस्कार किया, वनपाल को ईनाम दिया और सम्पूर्ण नगर में आनन्दभैरी बजाकर भगवान के पधारने की सूचना दी।

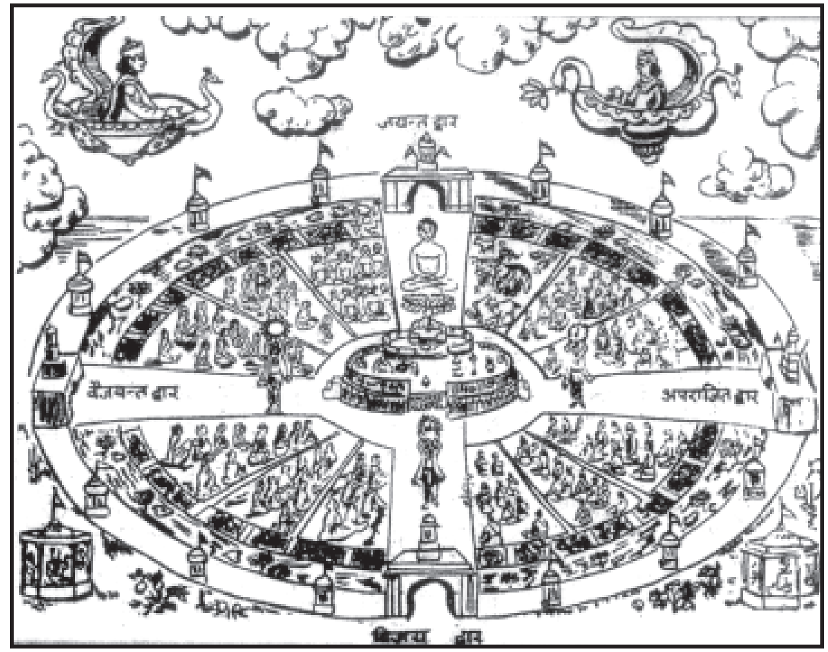

राजा अशोक सम्पूर्ण राज्यलक्ष्मी, लोकपालकुमार को देकर वासूपूज्य भगवान के समवसरण में पहुँचे। वहाँ भगवान की तीन प्रदक्षिणा करके भक्तिपूर्वक नमस्कार करके जिनदीक्षा अङ्गीकार की और वासूपूज्य भगवान के अमृतास्रव नामक गणधर हुए। उग्र तपश्चर्या करके अन्त में समस्त कर्मों का अभाव करके निर्वाणधाम पधारे।

महारानी रोहिणी ने भी समस्त परिग्रह छोड़कर भगवान को नमस्कार करके सुमति आर्यिका से दीक्षा ग्रहण की और कठोर तपश्चर्या करके अन्त में सल्लेखनापूर्वक शरीर का परित्याग करके अच्युत स्वर्ग में देवपर्याय धारण की और वहाँ से आकर मुक्ति प्राप्त करेगी।

इस प्रकार घोर पाप करेनवाले जीव भी जिनधर्म की शरण लेने पर शाश्वत सुख-मोक्षलक्ष्मी का वरते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री कहते हैं कि हे भाई! घोर विकारभाव भी आत्मा के ऊपर-ऊपर तैरते हैं, वे आत्मस्वभाव में कभी भी प्रवेश नहीं करते, पर्याय में ही रहते हैं और पर्याय स्वयं क्षणवर्ती है। अत: यदि यह जीव अपने स्वभाव पर दृष्टि करे तो पर्याय के दु:ख स्वयमेव समाप्त हो जाते हैं क्योंकि वे स्वप्न के समान अत्यन्त क्षणभङ्गुर हैं। नट के स्वाङ्गों की तरह क्षणिक स्वाङ्गरूप होने से अगले ही समय बदल जाते हैं। आत्मा की शक्ति सामर्थ्य तो सदा शुद्ध ही है, उस शुद्ध परमेश्वर शक्ति का विश्वास करने पर, स्वानुभूति करने पर आत्मा पर्याय में साक्षात् परमेश्वर हो जाता है। ऐसा अद्भुत आश्चर्यकारी आत्मा का स्वरूप है।

कुमार अशोक की तरह हमें भी ऐसे अपने अद्भुत आत्मस्वरूप को पहिचान कर उसमें अपनापन स्थापित कर शाश्वतसुख को प्राप्त करना चाहिए। ● *(बोधि-समाधि निधान से)*

11

धर्मात्मा की नि:शङ्कता

श्रीरामचन्द्रजी के दो पुत्र इस पावागढ़ से मुक्तदशा को प्राप्त हुए हैं। रामचन्द्र और लक्ष्मण – ये दोनों भाई बलदेव और वासुदेव थे। दोनों में अत्यन्त स्नेह था। एक बार इन्द्रसभा में इन दोनों के पारस्परिक गाढ़ स्नेह की प्रशंसा होने पर दो देव उसकी परीक्षा करने के लिए आये और लक्ष्मण के महल के आसपास रामचन्द्रजी के मरण का कृत्रिम वातावरण उपस्थित कर लक्ष्मण से कहा – 'श्रीरामचन्द्रजी स्वर्गवासी हुए हैं।'

इन शब्दों को सुनकर ही 'हा! राम' – ऐसा कहते हुए लक्ष्मणजी उसी सिंहासन पर गिर पड़े और मरण को प्राप्त हुए।

अहा...! देखो, संसार की स्थिति! अभी रामचन्द्रजी तो जीवित ही हैं परन्तु उनके मरण के मिथ्या समाचार सुनते ही, तीव्र स्नेहवश लक्ष्मणजी मरण को प्राप्त हो गये।

संसार की इस दशा के सन्दर्भ में आचार्यदेव कहते हैं – 'इस अशरण संसार में, जिसका ध्यान ही एकमात्र शरण और शान्तिदायक है, उस परम चैतन्यतत्त्व को मैं प्रणाम करता हूँ... चैतन्य के ध्यान द्वारा समस्त कर्मों को शान्त कर देता हूँ।'

अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए इस आत्मा को शान्ति और मुक्ति कैसे प्राप्त हो ? – उसकी यह बात है। आत्मा का ध्येय सिद्धपद है। चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व क्या चीज है ? – उसे जानकर और उसका ध्यान कर-करके अनन्त जीवों ने सिद्धदशा को प्राप्त किया है। इसका वास्तविक स्वीकार करते ही यह प्रतीति हो जाती है कि मुझ आत्मा में भी ऐसा सिद्धपद प्रगट करने की सामर्थ्य है।

देखो भाई ! जीवन में करने योग्य कार्य तो यही है कि जिससे आत्मा भवसमुद्र से पार हो। भवभ्रमण के दुःखों में डूबा हुआ आत्मा जिस प्रकार से तिरे अर्थात् मुक्ति प्राप्त करे, वही उपाय कर्तव्य है। चैतन्यस्वभाव के आश्रय से प्रगट होनेवाले सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीर्थ द्वारा ही भवसमुद्र का पार पाया जा सकता है। इस तीर्थ की आराधना कर-करके अनन्त जीवों ने मुक्ति प्राप्त की है।

श्रीमुनिसुव्रत भगवान के तीर्थकाल में श्रीरामचन्द्रजी के दो पुत्र – लव और कुश – इस रत्नत्रय तीर्थ की आराधना करके, इसी पावागढ़ सिद्धक्षेत्र से मुक्तदशा को प्राप्त हुए हैं।

जब लक्ष्मण के स्वर्गवास का समाचार रामचन्द्रजी ने सुना तो वे शीघ्र ही वहाँ आये और लक्ष्मण की मृतक देह को निहारकर, मानों वे जीवित ही हों – ऐसा मानकर, उनके साथ बातचीत करने लगे... ! स्नेहीजनों ने, लक्ष्मण की देह का अन्तिम संस्कार करने के लिए अनेक प्रकार से समझाया, तथापि श्रीरामचन्द्रजी ने किसी की बात नहीं सुनी और लक्ष्मण की मृतक देह को कन्धे पर उठाकर घूमने लगे... और खिलाने-पिलाने, नहलाने-धुलाने, सुलाने और बुलवाने की अनेक चेष्टाएँ करने लगे। यद्यपि

श्रीरामचन्द्रजी को आत्मा का भान है, तथापि अस्थिरताजन्य मोह के कारण ये सब चेष्टाएँ होती हैं। इस प्रकार चेष्टाएँ करते हुए कई दिन व्यतीत हो गये।

अपने काका की मृत्यु और पिता की ऐसी दशा देखकर, उन दोनों पुत्र – लव और कुश को संसार से वैराग्य हो गया। दोनों राजकुमार लघुवय के हैं, चैतन्यतत्त्व के ज्ञाता और महावैराग्यवन्त हैं। वे विचार करने लगे – 'अरे! संसार की यह स्थिति! त्रिखण्डाधिपति की ऐसी दशा!!'

– ऐसा विचार कर, दोनों वैराग्यवन्त कुमार जिनदीक्षा अङ्गीकार करने हेतु तैयार हो जाते हैं... सुवर्ण के पुतले समान ये दोनों कुमार, पिताजी के सामने दीक्षा की आज्ञा माँगने आते हैं। श्रीरामचन्द्रजी के समीप ही लक्ष्मण का मृतक शरीर पड़ा है और तभी दोनों कुमार आकर, अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर, दीक्षा की आज्ञा माँगते हुए अत्यन्त वैराग्यरस भरपूर वाणी से इस प्रकार कहते हैं –

'हे पिताजी! अब हम इस क्षणभङ्गुर, असार संसार का परित्याग कर, जिनदीक्षा अङ्गीकार करना चाहते हैं... हम दीक्षा लेकर, ध्रुव चैतन्यस्वभाव का ध्यान करेंगे और उसके आनन्द में लीन होकर, इसी भव से सिद्धपद को प्राप्त करेंगे; इसलिए हमें दीक्षा ग्रहण करने के लिए आज्ञा प्रदान कीजिये। हे तात्! जिनशासन के प्रताप से सिद्धपद की साधना का आन्तरिक मार्ग हमने देखा है, अब हम उस मार्ग में गमन करेंगे।'

इस प्रकार कहकर, जिनके रोम-रोम अर्थात् प्रदेश-प्रदेश में वैराग्य की धारा उछल रही है – ऐसे वे दोनों राजकुमार, रामचन्द्रजी

को नमन करके, दीक्षा अङ्गीकार करने हेतु वन-जङ्गल की ओर प्रस्थान कर जाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इसी पावागढ़ तीर्थक्षेत्र की यात्रा के समय उद्‌गार व्यक्त किये -

'वाह! राजकुमारों की दशा!! आज तो इस पावागढ़ पर नज़र पड़ी, तभी से उनका जीवन नज़रों में झूल रहा है और उसके ही विचार चल रहे हैं। अहा! धन्य उनकी मुनिदशा!! धन्य उनका वैराग्य! और धन्य उनका जीवन!! सीताजी के गर्भ से जन्म लेकर उन्होंने अपना अवतार सफल कर लिया।

जब उन दोनों ने आत्मभान किया था, तब ही उन्होंने अन्तर में चैतन्य की मुक्ति का मार्ग निहारा था... इस संसार में कहीं सुख नहीं है, हमारा सुख और हमारी मुक्ति का मार्ग अन्तर में ही है - ऐसा भान तो उन्हें पहले से ही था। अब, तो वे उस जाने हुए मार्ग से चैतन्य के आनन्द को साधने के लिए अन्तरोन्मुख हुए हैं। देखो, यों ही जाने बिना दीक्षा अथवा साधुपना मान लेने की यह बात नहीं है; यह तो निःशङ्करूप से अन्तर में देखे, जाने और अनुभव किये हुए मार्ग से मुक्तिपद साधने के लिए जिसका प्रयाण है, गमन है - ऐसी मुनिदशा की बात है।

दीक्षा अङ्गीकार करने के पूर्व ही दोनों कुमारों को विश्वास है कि हमने निज चैतन्य में दृष्टि करके, अपनी मुक्ति का मार्ग निहारा है; अब तो उस चैतन्यपद में गहरे उतरकर, उसी में लीन होकर, इसी भव में अपने मोक्षपद की साधना करेंगे। हमारा मार्ग अप्रतिहत है। हमें इस मार्ग में शङ्का नहीं है और न हम वापस

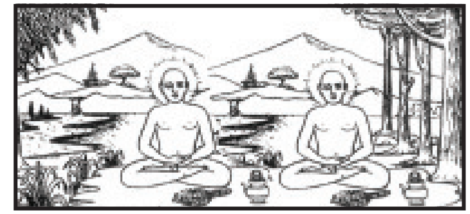

आनेवाले हैं। अप्रतिहतभाव से अन्तर-स्वरूप में झुके सो झुके... अब तो मोक्षपद प्राप्त करके ही रहेंगे।'

- ऐसे भाव से मुनि होकर, सीताजी के ये दोनों पुत्र, वन-जङ्गल में विचरते हैं और आत्मध्यान में अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव करते-करते केवलज्ञान के साथ केलि / क्रीड़ा करते हैं। अहा... !

हे लव-कुश मुनि, आतमहित में, छोड़ा सब संसार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार।
राज्य छोड़ा, वैभव छोड़ा, समझा जगत असार,
कि तुमने छोड़ा सब संसार॥

- ऐसे ये लव-कुश मुनिराज विहार करते-करते इस पावागढ़ क्षेत्र पर पधारे और इस पर्वत पर ध्यान किया... ध्यान करते -करते इस चैतन्यरस में ऐसे लीन हुए कि क्षपकश्रेणी आरोहण कर गये। फिर क्या हुआ ? -

चार घातिया कर्मों का क्षय हो जहाँ,
हो भवतरु का बीज समूल विनाश जब।
सकल ज्ञेय का ज्ञाता-दृष्टा मात्र हो,
कृत्यकृत्य प्रभु वीर्य अनन्त प्रकाश जब॥

इस पावागढ़ पर्वत पर चैतन्य का ध्यान करते-करते उन दोनों मुनिवरों ने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया... वे कृतकृत्य परमात्मा हो गये। उन परमात्मा को हमारा नमस्कार हो।

पूज्य गुरुदेवश्री ने कहा – ‘केवलज्ञान होने के बाद अल्प काल में यहीं से वे मोक्ष पधारे... यह उनका सिद्धिधाम तीर्थ है। कल इस तीर्थ की यात्रा करना है। अपने को तो अभी दक्षिण में ठेठ बाहुबलीजी की यात्रा करने जाना है। उसमें बीच में ऐसे अनेक तीर्थ आएँगे, यह तो अभी पहला-पहला मुहूर्त है।

वास्तव में शुद्धरत्नत्रयरूप परमार्थ तीर्थ के द्वारा संसार को पार करके यहाँ से वे सिद्धपद को प्राप्त हुए, इस कारण यह क्षेत्र भी व्यवहार से तीर्थ है। **शुद्धरत्नत्रयरूप निश्चयतीर्थ के स्मरण और बहुमान के लिए यह तीर्थयात्रा है।** यात्रा का भाव, ज्ञानी धर्मात्मा और मुनिराजों को भी आता है; साथ ही उस भाव की मर्यादा को भी वे जानते हैं।

अहा... ! प्रात:काल इस पावापुर सिद्धक्षेत्र में आये, तभी से लव-कुश ही याद आते हैं... दोनों राजकुमारों ने विवाह किया था परन्तु अन्दर में भान था कि अरे! इस क्षणभङ्गुर संसार में कौन किसका पति और कौन किसकी पत्नी? कौन पुत्र और कौन माता? अरे! पुत्र को माता गोद में ले, इससे पूर्व तो अनित्यता ने उसे अपनी गोद में ले लिया है। माता गोद में लेकर पुत्र का मुख देखे, इसके पूर्व ही अनित्यता ने उसका मुख देख लिया है। प्रतिक्षण उसकी आयु घट रही है – ऐसा अनित्य यह संसार है।

संयोगों की स्थिति ही ऐसी है, उनमें कहीं शरण नहीं है। माता की गोद भी अशरण है, तब अन्य की तो बात ही क्या? मैं तो अपने नित्य-चिदानन्दस्वभाव की गोद में जाऊँगा... वहीं हमारा शरण है और उसमें ही हमारा विश्वास है। जहाँ मेरा विश्वास है, वहीं मैं जाऊँगा। अनित्य संयोगों का मुझे विश्वास

नहीं है, इस कारण उनके बीच मैं नहीं रहूँगा।

संयोगों की सन्मुखता छोड़कर, मैं तो असंयोगी स्वभाव में स्थिर होऊँगा। मुझे नि:शङ्क विश्वास है कि स्वभाव में ही मेरा सुख है; संयोग में सुख नहीं है। अत: मैं संयोग से दूर और स्वभाव के समीप होऊँगा। उस स्वभाव का मार्ग हमने जाना है... मैं उस जाने हुए मार्ग में ही जाऊँगा और मुक्ति प्राप्त करूँगा।

देखो, यह नि:शङ्कता! धर्मात्मा को अन्तरङ्ग में नि:शङ्क भान होता है कि हमने मार्ग देखा है.. और उसी मार्ग में जा रहे हैं। ‘यह मार्ग होगा या अन्य मार्ग होगा! आत्मा ने सम्यग्दर्शन पाया होगा या नहीं पाया होगा?’ – ऐसा कोई सन्देह धर्मी को नहीं होता। धर्मात्मा को तो नि:शङ्क दृढ़ता होती है कि हमने अपने स्वानुभव से जो मार्ग देखा है, उस दृष्ट मार्ग पर ही हमारा आत्मा चल रहा है। मार्ग के

सम्बन्ध में ऐसे नि:शङ्क निर्णयपूर्वक दोनों राजकुमार दीक्षा लेकर चैतन्य में ऐसे लीन हुए कि केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। वे इस पावागढ़ में जिस स्थान से मुक्त हुए, ठीक उसी के ऊपर वे सिद्ध-भगवान सिद्धालय में विराजमान हैं। ऊपर सिद्धालय में अनन्त सिद्धभगवन्त विराजमान हैं। उन सिद्धभगवन्तों का स्मरण / बहुमान करने में यह सिद्धक्षेत्र निमित्त है।’ ●

(– पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा पावागढ़ सिद्धिधाम में प्रवचन, वीर निर्वाण संवत् २४८५, ‘अखण्ड-आराधना’ पुस्तक से साभार)

12

सियार चला सिद्धों के मार्ग

पवित्र जिनधर्म तथा गुरुजनों को नमस्कार करके उनकी कथा लिखते हैं कि जिन्होंने रात्रि भोजन त्याग करके आगे चलकर मोक्ष प्राप्त किया।

जो महानुभाव जीवों की रक्षा के लिए रात्रि भोजन का त्याग करते हैं, वे इस लोक तथा परलोक दोनों में सुखी रहते हैं, उनको हर प्रकार की सम्पदा सुलभ होती है और जो लोग रात्रि में भोजन करते हैं, वे पापी होते हैं, उनको जीवहिंसा का पाप लगता है; इसलिए सभी के लिए रात्रि भोजन का त्याग हितकारी है।

एक सियार ने मुनिराज से रात्रि भोजन-पान के त्याग का नियम लेकर, जीवन पर्यन्त उस नियम का निर्वाह किया और अगले ही भव में मोक्षलक्ष्मी का वरण कर अनन्त सुखी हुआ, उसका यहाँ कथारूप में वर्णन करते हैं।

मगधदेश में सुप्रतिष्ठित नाम का नगर अपनी सुन्दरता तथा विशालता के लिये प्रख्यात था। वहाँ के राजा जयसेन धर्मज्ञ तथा प्रजापालक थे।

वहाँ धनमित्र नाम का एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी

धनमित्रा थी। यह दम्पति जैनधर्म के दृढ़श्रद्धानी थे। एक दिन उनके पुण्य योग से उन्हें सागरसेन नामक अवधिज्ञानी मुनिराज को आहार देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुनिराज के आहारोपरान्त उन्होंने अति विनयपूर्वक हाथ जोड़कर उनसे धर्मोपदेश सुनाने का निवेदन किया और कहा कि – 'हे प्रभो! अब हमको सन्तान की आशा नहीं रही; अत: इस संसार की मोह-माया में फँसने से उत्तम है कि जिनदीक्षा ग्रहण करके आत्महित करें।

तब अवधिज्ञानी मुनिराज ने कहा – 'हे भव्य! अभी दीक्षा का शुभ अवसर नहीं है। तुम्हें शीघ्र ही पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी, उसके द्वारा अनेक प्राणियों का कल्याण होगा।' मुनि की ऐसी भविष्यवाणी सुनकर सेठ दम्पति प्रसन्न हुए।

तभी से सेठानी धनमित्रा जिनपूजादि धार्मिक अनुष्ठानों की ओर विशेष ध्यान देने लगीं। उसने थोड़े समय के पश्चात् यथासमय एक प्रतापी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र-जन्म के उपलक्ष्य में सेठ ने उत्सव किया, पूजा प्रभावना की और उस बालक का नाम प्रीतिङ्करकुमार रखा। उसकी सुन्दरता कामदेव के समान थी।

जब प्रीतिङ्कर पाँच वर्ष का हुआ तो उसके पिता ने उसे विद्या पढ़ने के लिए गुरु के पास भेज दिया। कुमार अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण थोड़े ही समय में विद्वान् बन गया। धनी और विद्वान होने पर भी प्रीतिङ्कर में अभिमान का नामोनिशान नहीं था। वह हमेशा शिक्षण देता और धर्मोपदेश करता था। महाराज जयसेन भी उसकी इस परोपकारिता से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने वस्त्राभूषणों से प्रीतिङ्कर का सम्मान किया।

यद्यपि प्रीतिङ्कर को धन की कमी नहीं थी, तथापि उसको कर्तव्यहीन होकर बैठा रहना ठीक नहीं लगा। उसे धन प्राप्त करने की इच्छा हुई। उसने प्रतिज्ञा की कि जब तक मैं स्वयं धनोपार्जन हेतु विदेश के लिए रवाना हुआ। विदेश में वर्षों रहकर प्रीतिङ्करकुमार ने बहुत धन अर्जित किया और उस धनसहित जब वापस घर आया, तब उसके माता-पिता आदि सभी को अत्यन्त आनन्द हुआ। प्रीतिङ्कर की ऐसी लगन देखकर महाराज जयसेन अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने अपनी पुत्री पृथ्वीसुन्दरी का विवाह प्रीतिङ्कर से करके उसे आधा राज्य भी दे दिया। इसी बीच अन्य देशों की राजकुमारियों के साथ भी प्रीतिङ्कर का विवाह सम्पन्न हुआ।

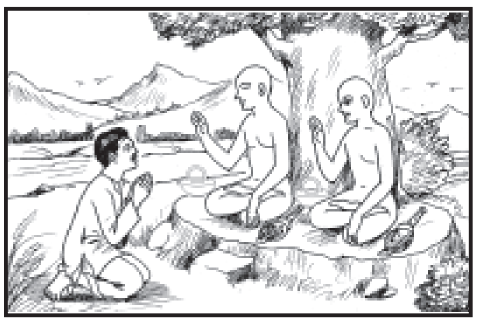

प्रीतिङ्कर, राज्यविभूति प्राप्तकर आनन्दपूर्वक रहने लगा। वह प्रतिदिन जिनपूजा एवं शास्त्र स्वाध्याय, तत्त्वचिन्तन -मनन आदि करता था। परोपकार करना तो उसके जीवन का अङ्ग था। एक बार सुप्रतिष्ठितपुर के सुन्दर बगीचे में चारण ऋद्धिधारी मुनि ऋजुमति और विपुलमति पधारे। प्रीतिङ्करकुमार ने आदरपूर्वक उनका सम्मान किया और अष्ट द्रव्यों से उनकी पूजा करके धर्म का स्वरूप पूछा।

मुनिराज ने धर्म का स्वरूप इस प्रकार बताया -

'प्रीतिङ्कर! **धर्म वह है, जिससे संसार के दुःखों से रक्षा तथा उत्तम सुख प्राप्त हो।** धर्म के दो भेद हैं - मुनिधर्म और गृहस्थधर्म। मुनिधर्म, सर्व त्यागरूप होता है और गृहस्थ, घर में हरकर ही धर्म का पालन करता है। मुनिधर्म और गृहस्थधर्म में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि पहला साक्षात् मोक्ष का कारण है और दूसरा परम्परा से।'

मुनिराज के उपदेश से प्रीतिङ्कर को जैनधर्म के प्रति श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई। उसने हाथ जोड़कर मुनिराज से प्रार्थना की - 'हे प्रभु! मेरे पूर्वभव की कथा सुनाओ।'

★ ★ ★

मुनिराज कहने लगे -

'एक बार इस बगीचे में तपस्वी सागरसेन मुनि उतरे थे। नगर निवासी गाजते-बाजते मुनिराज के दर्शन के लिए आये थे। लोगों के चले जाने के बाद वहाँ एक सियार आया और एक मृत देह का भक्षण करने को तैयार हुआ कि तभी मुनिराज ने उसे समझाया कि पाप-परिणामों का फल बहुत बुरा होता है। तू मुर्दे को खाने के लिए इतना व्याकुल है, धिक्कार है तुझे! तू जैनधर्म ग्रहण न करके आज तक बहुत दुःखी हुआ है। अब तू पुण्य के रास्ते चलना सीख।'

उसकी होनहार ठीक थी; अतः वह मुनिराज का उपदेश सुनकर शान्त हो गया। मुनिराज ने आगे कहना शुरु किया कि 'तू विशेष व्रतों को तो धारण नहीं कर सकता। अतः रात्रि में खाना-पीना छोड़ दे। यह व्रत समस्त व्रतों का मूल है।' सियार ने

ऐसा ही किया। वह हमेशा मुनिराज के चरणों का स्मरण करता रहता था।

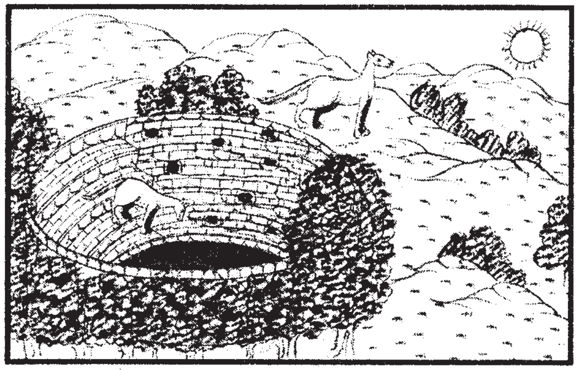

इस प्रकार सियार का जीवन व्रतसहित बीतने लगा। एक बार दिन में ही अम्बर में घने मेघों के छा जाने से दिन ही रात्रि के समान भाषित होने लगा, फिर भी मेघों के अन्दर छुपा हुआ सूर्य खुले मैदान में तो अपने प्रताप से दिन की सत्ता का अहसास करा रहा था परन्तु बावड़ी के भीतर कुछ अन्धकार-सा प्रतीत होने के कारण वहाँ रात्रि-सी लगने लगी थी। इसी समय में उस सियार को बहुत जोर से प्यास लगी, वह बावड़ी के अन्दर पानी पीने गया। बावड़ी के अन्दर अन्धकार था, वह समझा कि रात्रि हो गई है; अत: बिना पानी पिये ही वापिस आ गया।

इस प्रकार वह कितनी ही बार भी बावड़ी में उतरा और वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं देख कर वापस आ जाता। अन्त में बिना पानी पिये दु:खी हो गया और अन्तिम बार बावड़ी में उतरा परन्तु वापिस नहीं आ सका। वहीं उसका मरण हो गया। मृत्यु के उपरान्त उसने धनमित्रा के गर्भ से प्रीतिङ्कर के रूप में जन्म लिया है। यह तेरा अन्तिम शरीर है। तू कर्मों का अभाव करके मोक्ष प्राप्त करेगा।'

इस प्रकार मुनिराज के श्रीमुख से पूर्वभव का वृतान्त सुनकर राजा प्रीतिङ्कर को वैराग्य हो गया। उसे विषय भोगों से विरक्ति हो गयी। वह अपने पुत्र प्रियङ्कर को राज्य देकर भगवान वर्द्धमान स्वामी के समवसरण में गया और उसने त्रिलोक पूज्य भगवान के दर्शन करके जिनदीक्षा ले ली। तत्पश्चात् प्रीतिङ्कर मुनिराज ने शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। उनके पवित्र उपदेशामृत से संसार के जीव दु:ख से छुटकारा पाकर सुखी हुए।

प्रीतिङ्कर मुनिराज का यह चरित्र पढ़कर भव्यजन चिरकाल तक सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर अपना मोक्षमार्ग प्रशस्त करते रहेंगे।

एक पशु पर्याय में उत्पन्न सियार ने केवल रात्रिभोजन त्यागकर मनुष्य योनि में जन्म लिया और सुख भोगकर मोक्ष प्राप्त किया। इसी प्रकार भव्य जीवों को भी अनन्त सुख की प्राप्ति के लिए जैनधर्म में दृढ़ विश्वास कर अपने आत्मा की साधना और परमात्मा की आराधना कर अपना जीवन सफल करना चाहिए। ●

(बोधि समाधि निधान से साभार)

13

सिद्ध भगवान की आत्मकथा

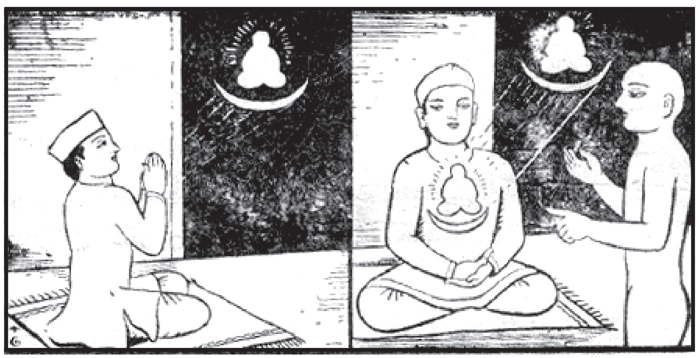

सिद्ध भगवान के आत्मा का विचार करने से उनकी आत्मकथा का जो मुझे ज्ञान हुआ, उसका विवरण यहाँ प्रस्तुत है।

यह जीव अनादि काल से निगोददशा में ही अनन्तानन्त दुःख सहता हुआ, उसी में जन्म-मरण कर रहा था। अहा! उन अपार दुःखों को तो केवलज्ञानी ही जानते हैं। उस निगोददशा में एक शरीर में अनन्त जीव रहते हैं और उनको एकमात्र स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है, वहाँ ज्ञान का क्षयोपशम भी अत्यन्त अल्प होता है। वे जीव प्रचुर मोहावेश से घिरे

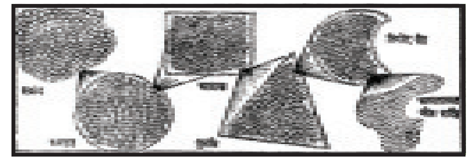

रहते हैं। एक श्वासोच्छवास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। ऐसे अपार दुःखों को सहन करते हुए उस जीव ने एक बार कुछ मन्दकषायरूप परिणामों से मरण करके एक सुप्रसिद्ध सेठ के घर पुत्ररूप में जन्म लिया।

सेठजी सम्पत्तिशाली तो थे ही, साथ ही उनके हृदय में धर्मभावना भी प्रबल थी; वे वीतराग धर्म के अनन्यभक्त थे। विशाल व्यापारिक काम-काज में पड़े होने पर भी सेठजी के हृदय में सदा ही आत्महित की कामना रहती थी। वे प्रतिदिन नियमितरूप से देवदर्शन, शास्त्र-स्वाध्याय तथा मुनिराज के चरणकमलों के निकट भक्तिपूर्वक देशना श्रवण करना नहीं चूकते थे। सेठजी ने नगर में अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे और उनके घर में भी एक भव्य जिनमन्दिर था। सेठजी वास्तव में एक श्रेष्ठ आत्मार्थी जीव थे, सेठजी की तरह उनकी पत्नी एवं सारा परिवार भी संस्कार और धर्मभावनामय था।

ऐसे सेठजी के घर में उस जीव ने पुत्ररूप में जन्म लिया, जो इसी भव से सिद्धदशा प्राप्त करनेवाला है। पुत्र-जन्म का सेठजी ने एक महोत्सव किया, जिनमन्दिर में अनेक प्रकार विधान-पूजन हुए और अनेक प्रकार के दान की घोषणा की गयी, सारे नगर में गरीब लोगों को मिष्ठान और वस्त्रादि बाँटे गये। सेठजी ने पुत्र का भी नाम सिद्धकुमार रखा।

'सिद्धकुमार' का बचपन बड़े ही लाड़-प्यार में व्यतीत होने लगा। जब सेठजी जिनमन्दिर में पूजा, स्वाध्याय, ध्यान करते, तब बालक 'सिद्धकुमार' अपने पिता के निकट जाकर बैठ जाता और जिनप्रतिमा के सन्मुख एकटक देखता रहता। सिद्धकुमार की सौम्य सुन्दर मुखाकृति और शान्तप्रकृति देखकर लोग आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहते। जब सिद्धकुमार पाँच वर्ष का हुआ तो सेठजी ने उसके लौकिक और धार्मिक शिक्षण की समुचित व्यवस्था की जिससे बालक सिद्धकुमार दिन-प्रतिदिन अध्ययन में आगे बढ़ने लगा।

★★★

भव्य जीवों के महाभाग्य से एक बार शहर में एक वीतरागी मुनिराज आहार हेतु पधारे। सेठजी ने मुनिराज का पड़गाहन किया और महाभाग्य से सेठजी को आहारदान का शुभअवसर प्राप्त हुआ। आहार की विधि समाप्त होने के पश्चात् मुनिराज के चरणों का स्पर्श करके सब अपने को कृतार्थ मानने लगे। सिद्धकुमार ने भी मुनिराज के चरणकमलों में उल्लासपूर्वक साष्टाङ्ग प्रणाम किया। मुनिराज ने उसके मस्तक पर हाथ रखकर सेठजी से कहा 'हे भद्र! यह जीव इसी भव में भगवती

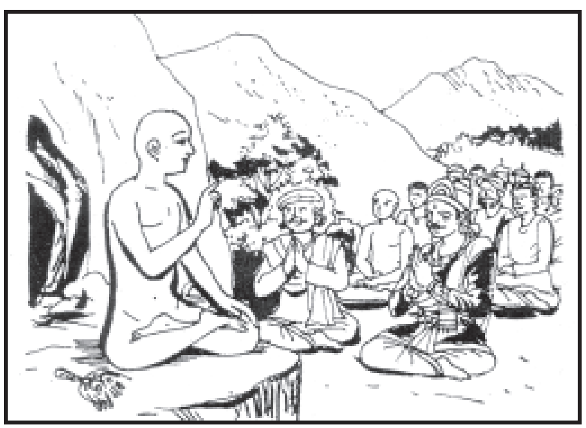

जिनदीक्षा धारण करके परमानन्दमय शाश्वत सिद्धदशा को प्राप्त करेगा' - ऐसा कहकर मुनिराज वहाँ से वन की ओर विहार कर गये।

सिद्धकुमार के विषय में यह बात सुनकर सेठजी और समस्त कुटुम्बीजनों के हृदय में हर्ष का सागर लहराने लगा। आनन्दमग्न सेठजी ने महान उत्सव किया। उस दिन से सब सिद्धकुमार के प्रति अत्यन्त भक्ति एवं प्रेम रखने लगे।

इधर सिद्धकुमार का अभ्यासक्रम भी शीघ्रता से आगे बढ़ने लगा। उसकी बुद्धि का चमत्कार देखकर उसके शिक्षक भी आश्चर्यमग्न हो जाते थे। लगभग तेरह वर्ष की आयु होने तक तो सिद्धकुमार ने लौकिक अभ्यास में गणित, साहित्यविज्ञान, कविता आदि का अधिकांश अभ्यास कर लिया और धार्मिक अभ्यास में भी चारों अनुयोगों का अच्छी तरह अभ्यास किया। नव तत्त्व, छह द्रव्य, त्रिलोक की रचना, कर्म का स्वभाव, श्रावक और मुनि के आचरण तथा ऋषभादि त्रेसठ शलाका पुरुषों के चरित्र का अभ्यास होने पर सिद्धकुमार को समस्त जगत की व्यवस्था और संसार-मोक्ष का स्वरूप ज्ञात होने लगा।

स्वाध्याय तथा वीतरागी मुनियों के समागम से उसने आत्मा के स्वरूप का भी अभ्यास किया। **उसके अन्तर में निश्चय हुआ कि अहो! इस अनन्त संसार-सागर में जीव को अनन्त दुःखों का एक मूलकारण भ्रमरूप मिथ्यामान्यता ही है। इन अनन्त दुःखों से मुक्त करके मोक्षमार्ग में स्थापित**

करनेवाला कल्याणमूर्ति एकमात्र सम्यग्दर्शन ही है, वही धर्म का मूल है। इस सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना जीव जो कुछ करता है, वह संसार में परिभ्रमण का ही कारण होता है। ऐसे कल्याणमूर्ति सम्यग्दर्शन के लिए सिद्धकुमार की जिज्ञासा और आकाँक्षा बढ़ने लगी। संसार के सुख-वैभव से उसकी वृत्तियाँ उदासीन होने लगी। अब वह अधिक समय वीतरागी मुनियों के समागम में रहने लगा। वीतरागी मुनियों का भी उसके प्रति परम अनुग्रह रहता था।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के लिए तरसते हुए सिद्धकुमार की आयु सोलह वर्ष के लगभग हो गयी। सामान्यत: युवा पुत्र को देखकर माता-पिता का विचार विवाह करने का होता है परन्तु संसार के प्रति उसकी तीव्र उदासीनता देखकर सिद्धकुमार के पिता उसके समक्ष विवाह की बात नहीं कह सके।

★ ★ ★

एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में सिद्धकुमार, आत्मा के स्वरूप का चिन्तवन कर रहे थे। अपने अखण्ड ज्ञायकस्वभाव में लीन होने से उनके अन्तरङ्ग ज्ञानभानु का उदय होकर

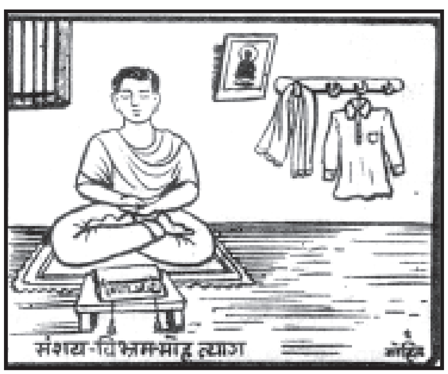

मिथ्यात्वपरिणति का नाश हो गया। उन्हें शरीर, कर्म और संयोग से भिन्न एवं विकारी तथा अपूर्ण पर्याय से पार त्रिकाल शुद्ध चैतन्यस्वरूप निजात्मा का अनुभव हो गया। अनादि

से जो परिणति परपदार्थ और विकार का आश्रय करती हुई अनन्त क्लेश को पा रही थी, वह अब स्वभाव का आश्रय लेकर क्लेशरहित हुई और जिसे प्राप्त करने की भावना सिद्धकुमार वर्षों से कर रहे थे, वह स्वरूपनिधि प्राप्त होने से परमानन्द प्राप्त हुआ। उन्हें त्रिलोक पूज्य सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई, इससे वे अपने को कृतकृत्य समझने लगे।

★ ★ ★

प्रभात होते ही स्नानादि से निवृत्त होकर सिद्धकुमार जिनमन्दिर में जिनेन्द्र-पूजन की एवं तत्पश्चात् नगर के बाहर विराजमान वीतरागी मुनि श्री जिनेन्द्राचार्य के निकट गये, अपने को हुए स्वानुभव का वर्णन किया और हाथ जोड़कर प्रार्थना की -

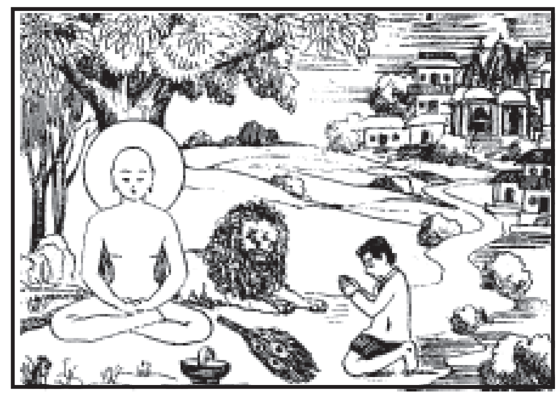

'हे प्रभो! अब मेरी परिणति संसार से उदासीन हुई है, मैं संसार दु:खों से थक गया हूँ; अत: मुझे भगवती जिनदीक्षा देकर अपने चरणकमलों का आश्रय दीजिये।' ऐसा कहकर सिद्धकुमार ने चारित्रदशा धारण करने की अपनी अन्तरभावना आचार्यदेव के समक्ष व्यक्त की।

सिद्धकुमार की इस उच्च भावना की आचार्यदेव ने अनुमोदना की और जिनदीक्षा धारण करने के लिए कुटुम्बीजनों

की अनुमति लेने को कहा। सिद्धकुमार परम-भक्ति से मुनिराज को नमस्कार करके अपने घर आये।

उन्होंने घर आकर माता-पिता तथा कुटुम्बीजनों से जिनदीक्षा लेने की अभिलाषा व्यक्त की। यह सुनकर उनके धर्मनिष्ठ माता-पिता तथा कुटुम्बीजन हर्ष से अवाक् रह गये। माता-पिता की आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे। सिद्धकुमार ने उन्हें वैराग्यप्रेरक तत्त्व सुनाया। माता-पिता तथा कुटुम्बीजनों ने सिद्धकुमार को हार्दिक अनुमोदनापूर्वक जिनदीक्षा लेने की अनुमति प्रदान की और दीक्षा का बड़ा उत्सव मनाया। महान रथयात्रा के रूप में सब गाजे-बाजेसहित श्री जिनेन्द्राचार्य के निकट आये। सिद्धकुमार ने गुरुदेव को नमस्कार करके विधिपूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग किया और निर्ग्रन्थदशा अङ्गीकार कर ली।

जिनदीक्षा ग्रहण करके मुनिराज सिद्धकुमार अपने आत्मस्वभाव में लीन रहते हुए प्रचण्ड पुरुषार्थ द्वारा मोहशत्रु का चारों ओर से नाश करने लगे। एक दिन मध्यरात्रि के समय स्व-स्वरूप में लीन होकर विद्यमान अल्प मोहभाव का भी नाश करने को

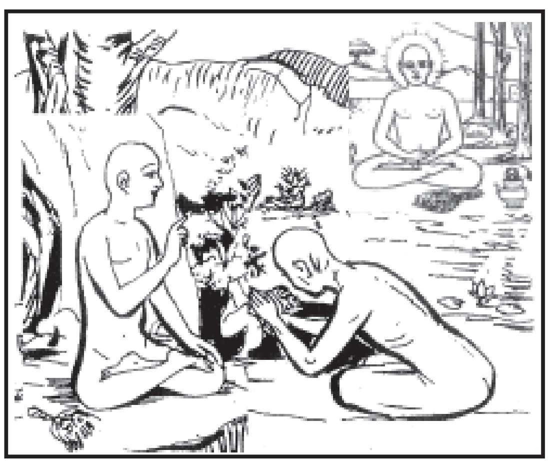

उद्यत हुए। क्षपकश्रेणी में आरूढ़ होकर मोहशत्रु का सम्पूर्ण नाश किया और लोकालोक प्रकाशक परमज्योति केवलज्ञान को प्रगट कर लिया।

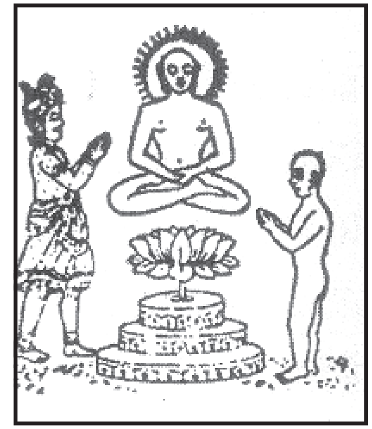

केवलज्ञान होते ही चारों प्रकार के देव उनके केवलज्ञान का महोत्सव मनाने आये। केवलज्ञानरूपी दिव्यनेत्र के धारक उन अरहन्तपरमात्मा ने दिव्यध्वनि द्वारा मोक्षमार्ग का उपदेश करके अनेक जीवों के संसारताप को शान्त किया। इस प्रकार कई वर्ष तक सारे संसार में वस्तुस्वभाव का उपदेश करके, अनेक जीवों को मोक्षमार्ग की प्राप्ति से निमित्तभूत हुए। निर्वाण के पूर्व उनकी देह सम्मेदशिखर पर स्थित हो गयी और तुरन्त योग-निरोध करके चौदहवें गुणस्थान में प्रवेश किया और अल्प काल में ही देहमुक्त होकर उनका आत्मा एक समय में लोकाग्र में स्थित हुआ और शाश्वत

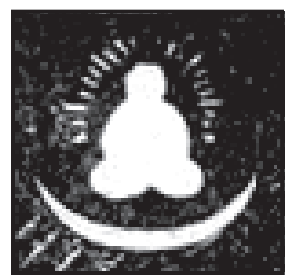

परमानन्दमय तथा केवलज्ञानादि गुणोंसहित सर्वोत्कृष्ट सिद्धदशा को प्राप्त हुआ।

बन्धुओं! सिद्ध परमात्मा की यह गौरव गाथा हमें भी सिद्धत्व की पावन प्रेरणा प्रदान करती है। आओ! हम सब भी सिद्धपद की प्राप्ति का पुरुषार्थ जागृत करें। ●

- ब्रह्मचारी हरिलाल जैन

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के भक्तिपूर्ण उद्‌गार

हम तो मुनियों के दासानुदास हैं

मुक्तिसुन्दरी नाथ : वीतरागी मुनिराज

भगवान से साक्षात् भेंट करने के लिए निकले मोक्षमार्गी मुनिवर आनन्दसागर में झूल रहे हैं; अन्तर के चैतन्यसागर में शान्ति का ज्वार आया है... आनन्दसागर उछला है... रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गयी है। ऐसे मुनि मानो 'चलते-फिरते सिद्ध' हों - ऐसी उनकी अद्भुत दशा है। मुक्तिसुन्दरी कहती है कि 'मैं ऐसे शुद्ध रत्नत्रय के साधक मुनिवरों का ही वरण करती हूँ।' ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर ही मुक्तिसुन्दरी के नाथ होते हैं। 'जय हो उन मुक्ति-सुन्दरी के नाथ की!'....

★ ★ ★

उपशान्त रस के पिण्ड : मुनिराज

जिन्होंने अध्यात्म के सार का निर्णय किया है अर्थात् ज्ञानानन्दस्वभाव आत्मा का अन्तर में निर्णय किया है; जिन्हें सम्यग्दर्शन-ज्ञान प्रगट हुआ है और तदुपरान्त अन्तरस्वरूप में लीन होने से शान्त... शान्त... दशा प्रगट हो गयी है अर्थात् समाधि परिणमित हो गयी है। जिन्हें सहज वीतरागदशा अन्तरस्वरूप के अवलम्बन से वर्त रही है; उपशान्तरस जम गया है - ऐसे मोक्षमार्गी मुनिवर, वीतरागी समिति द्वारा सांसारिक क्लेशजाल को जलाकर **मुक्ति-सुन्दरी के नाथ** होते हैं।

मुनिराज : विरोधी के प्रति भी समभाव

अन्तर के चैतन्यसागर में मुनिवरों को शान्ति का ज्वार आया है, आनन्द का समुद्र उछला है, वे आनन्दसागर में झूल रहे हैं, उनके रोम-रोम में समाधि परिणमित हो गयी है - ऐसी मुनिदशा में सहजरूप से ही समिति होती है। चिदानन्दस्वरूप में लीनता से मुनिवरों को ऐसी समाधि हो गयी है कि समस्त जीवों के प्रति अनुकम्पा वर्तती है; आत्मा के शान्तरस का वेदन होने से शत्रु के प्रति भी द्वेष की वृत्ति नहीं उठती। वे निःशङ्करूप से मोक्षमार्ग की स्थापना करते हैं, विपरीतता का खण्डन करते हैं, तथापि द्वेष का भाव नहीं होता, विरोधी के प्रति भी द्वेष नहीं है। अन्तर में चैतन्य के आश्रय से अपना आनन्द प्रवर्तमान है, शान्ति के मुख्यमार्ग पर स्वयं विचरते हैं।

★ ★ ★

अतीन्द्रिय आनन्द के भोगी

जब मुनिराज आहार के लिए जाते हैं, तब बीच में यदि किसी बालक आदि का रुदन सुनें तो आहार की वृत्ति टूट जाती है। अरे! हम शान्ति के साधक और बीच में यह अशान्ति की पुकार कहाँ से? हम तो अपने शान्तरस का पोषण करनेवाले हैं, हमें यह अशान्ति का प्रसङ्ग क्यों? - ऐसे प्रसङ्ग पर हमारा आहार नहीं हो सकता। आग लगी हो या मारो-काटो ऐसी आवाज सुनाई दे, उस समय भी मुनि आहार नहीं करते। अरे! हम तो शान्तरस द्वारा सांसारिक दावानल बुझानेवाले हैं; ऐसे प्रसङ्ग पर हम आहार नहीं कर सकते। हम तो आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का भोजन करनेवाले हैं। इस प्रकार चैतन्य के अवलम्बनपूर्वक आहार की वृत्ति छूट जाती है। ऐसे मुनिवरों की एषणा समिति होती है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन
ग्रन्थमाला के सम्माननीय सदस्य

परम संरक्षक –

(1) पण्डित श्री कैलाशचन्द्र पवनकुमार जैन, अलीगढ़; (2) श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री अजितप्रसाद जैन, दिल्ली; (3) श्रीमती ममता जैन, धर्मपत्नी श्री मुकेश जैन परिवार, अलीगढ़; (4) श्रीमती ताराबेन दाह्यालाल शाह, मुम्बई हस्ते श्री हसमुखभाई शाह, मुम्बई; (5) श्री गिरीश-प्रवीण शाह, यू.एस.ए.; (6) श्री गुणवन्त जे. हिमानी, मुम्बई; (7) श्रीमती कमलादेवी धर्मपत्नी श्री नेमीचन्द पाण्डया, कोलकाता; (8) श्री महेशचन्द्र परिवार, कन्नौज; (9) श्रीमती सरलादेवी जैन मातूश्री आलोककुमार जैन, परिवार, कानपुर; (10)श्री पी. के. जैन, परिवार, रुड़की; (11) श्री चम्पालाल भण्डारी, बंगलौर; (12) श्री महाचन्द जैन चन्दकला जैन सिंघई, भीलवाड़ा; (13) श्रीमती शीतल बी. शाह, लन्दन; (14) श्रीमती बीना जैन धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार जैन, देहरादून; (15) श्री प्रेमचन्द बजाज, कोटा; (16) श्री ऋषभ सुपुत्र श्री जैन बहादुर जैन, स्नेहलता, कानपुर; (17) श्रीमती पुष्पलता जैन धर्मपत्नी श्री अजितकुमार जैन, छिन्दबाड़ा; (18) श्री रमणलाल नेमीचन्द शाह, मुम्बई; (19) श्रीमती अमिता धर्मपत्नी श्री भानेन्द्रकुमार बगड़ा, नैरोबी; (20) श्री गंभीरमल प्रकाशचन्द्र जैन, अहमदाबाद; (21) श्री बाबूलाल राजेशकुमार मनोजकुमार पाटौदी, गोहाटी (दिल्ली); (22) जैन सेन्टर ऑफ ग्रेटर फिनिक्स, ऐरिजोना; (23) श्रीमती त्रिशलादेवी वीरेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (24) श्रीमती कोकिलाबेन शाह c/o श्री प्रवीन शाह कल्पना शाह, अमेरिका; (25) श्रीमती रंभाबेन पोपटलाल बोरा चैरिटेबिल ट्रस्ट, मुम्बई।

संरक्षक –

(1) अहिंसा चेरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर हस्ते दिलीपभाई; (2) श्री प्रकाशचन्द्र जैन छाबड़ा, सूरत; (3) डॉ० सनतकुमार जैन परिवार, सिहोर; (4) श्री कपूरचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (5) श्री कैलाशचन्द छाबड़ा परिवार, सूरत; (6) श्रीमती त्रिशलादेवी जैन, सूरत; (7) ज्ञायक पारमार्थिक ट्रस्ट, बाँसबाड़ा; (8) श्रीमती मीना जैन धर्मपत्नी श्री केशवदेव जैन, कानपुर; (9) श्री निहालचन्द जैन, धेवरचन्द जैन, जयपुर; (10) श्रीमती कमलप्रभा जैन मातुश्री श्री अशोक बड़जात्या, इन्दौर।

परम सहायक –

(1) पण्डित कैलाशचन्द जैन, परिवार, अलीगढ़; (2) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, ठाकुरगंज; (3) श्री अशोककुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (4) श्री बोसकुमार जैन, परिवार, चिलकाना; (5) श्री राजीकुमार जैन, चिलकाना; (6) श्री संजयकुमार जैन, चिलकाना; (7) श्री बलीशकुमार जैन, परिवार, गाजियाबाद; (8) श्री कैलाशचन्द्रजी जैन, परिवार, भीलवाड़ा; (9) श्री दिगम्बर जैन कुन्द कुन्द कहान स्मृति सभागृह ट्रस्ट, आगरा; (10) श्री प्रशान्तभाई दोशी, पुणे; (11) श्री राजेन्द्रभान बारौलिया, आगरा; (12) श्री शान्तिलाल कुसुमलता पाटनी, छिन्दबाड़ा; (13) श्री रविन्द्रकुमार जैन स्नेहलता जैन, नवी मुम्बई; (14) श्री कपूरचन्द अक्षयकुमार बत्सल, खनियांधाना; (15) श्री एम.पी. जैन चैरिटेबल ट्रस्ट, विवेक विहार, दिल्ली; (16) श्री जीवराज, कैलाश, प्रकाश संचेती, अजमेर; (17) श्रीमती इन्दिराबेन नवीनभाई शाह जोबालिया, मुम्बई; (18) श्री प्रकाशचन्द जैन, सूरत।

सहायक

(1) श्रीमती कान्तीदेवी जैन, धर्मपत्नी श्री मोतीचन्द्र जैन (शहरी), चिलकाना; (2) श्रीमती सीमा सेठी धर्मपत्नी श्री दिलीप सेठी, झालावाड़; (3) श्री शीलचन्द्र जैन 'सर्राफ', परिवार, बीना; (4) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, आगरा; (5) श्री दिगम्बर जैन मुमुक्षु मण्डल, करेली; (6) श्री उमेशचन्द संजीवकुमार, भोपाल; (7) श्री कन्नूभाई दोशी, परिवार, मुम्बई; (8) श्री खुशालचन्द्र राकेशकुमार सर्राफ, खिमलसा; (9) श्री धनकुमार सुनीलकुमार जैन, सूरत; (10) श्री वीरेश चिरंजीलाल कासलीवाल परिवार, सूरत; (11) श्रीमती स्व० शोभाबेन, धर्मपत्नी स्व० मोतीलाल कीकावत, लूणदा; (12) श्रीमती प्रकाशवती धर्मपत्नी गंभीरचन्द्रजी वैद्य, अलीगंज हस्ते डॉ० योगेश जैन; (13) श्री महेशचन्द जैन, आगरा; (14) श्रीमती रविकान्ता जैन, राधोगढ़; (15) श्री कीर्तिञ्जय अण्णासा गोरे, हिंगोली (फालेगाँव); (16) वन्दना प्रकाशन, अलवर; (17) श्री राजकुमार जैन, रश्मि जैन, उज्जैन; (18) श्री अजित 'अचल' ग्वालियर; (19) श्री कोटडिया चम्पकलाल नाथालाल शाह, अहमदाबाद; (20) श्री सी.एस. जैन, देहरादून; (21) श्री सागरमल माधवलाल सेठी, बुरहानपुर (एम.पी.); (22) श्रीमती शकुन्तलादेवी धर्मपत्नी श्री जवाहरलाल जैन, जयपुर; (23) श्री मनु जैन सुपुत्र श्री अरिदमन जैन, मेरठ; (24) श्री अजितकुमार जैन, एड. सीकर; (25) श्री वीरेन्द्रकुमार पारसकुमार, मनोजकुमार हरसौरा, कोटा; (26) डॉ. रांका जैन, प्रिसिंपल, देहरादून; (27) श्रीमती वर्षा बेन पीयूष शाह, ऐरिजोना अमेरिका; (28) श्री विजय किकावत, बसंत विहार, नई दिल्ली; (29) पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट, मुम्बई; (30) श्री अजय जैन (सी.ए.), कोटा; (31) श्री चान्दमल हेमन्तकुमार वेद, भीलवाड़ा; (32) श्री सुशीलकुमार जैन समकित पहाड़िया, किशनगढ़; (33) श्री समय गाँधी सुपुत्र श्री रणजीत भाऊ साहेब गाँधी, सोलापुर; (34) श्री कमल बोहरा, कोटा; (35) श्री अनूपकुमार जैन, आगरा; (36) श्रीमती नेहल धर्मपत्नी श्री राजेन्द्रकुमार कोठारी, दाहोद; (37) श्रीमती नीलमबेन रमणीकभाई घड़ियाली, मोरबी; (38) स्व. श्री चान्दमल लुहाड़िया परिवार, बिजौलिया; (39) श्री महावीर प्रसाद जैन, आगरा; (40) श्री सुभाषचन्द गोयल, आगरा; (41) श्री वंशीधर जैन, आगरा; (42) श्रीमती सत्या जैन धर्मपत्नी श्री महेन्द्रकुमार जैन, नई दिल्ली; (43) श्रीमती प्रकाशदेवी सेठी, गोहाटी; (44) श्री धनकुमार जैन, पार्ले पाइन्ट, सूरत; (45) श्री महावीर कुन्दकुन्द दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, दुर्ग।

भारत में उत्तरप्रदेश प्रान्त की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन सङ्कुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थधाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल

1. कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थङ्करों की निर्वाणस्थलियाँ - कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुरी, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
2. भगवान महावीर मन्दिर
3. भगवान बाहुबली मन्दिर
4. पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केन्द्र
5. आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र
6. धन्य मुनिदशा (दिगम्बर मुनिराजों की दशा एवं चर्या)
7. आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
8. भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (हाथरस) उत्तरप्रदेश

email : pawanjain@mangalayatan.com; info@mangalayatan.com

website : www.mangalayatan.com

धन्य मुनिराज हमारे हैं

(खण्ड - 3)

ISBN No.
978-81-906776-6-0